अंक 8

ISSN 0975-5217
वर्ष 2013

भैरवी

संगीत शोध पत्रिका

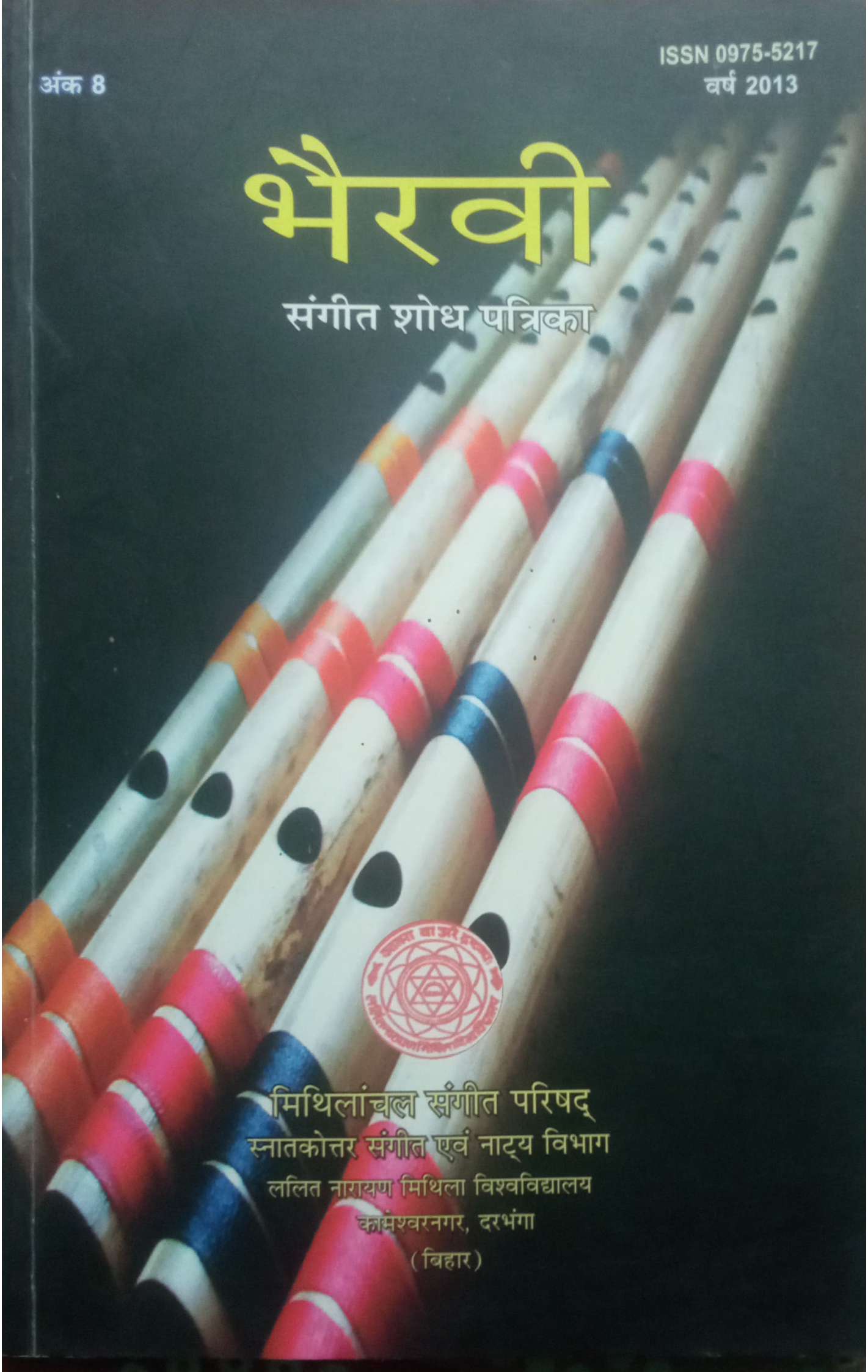

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा
(बिहार)

भैरवी

(संगीत शोध-पत्रिका)

(वर्ष 2013 अंक 8)

मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)

वर्ष-2013, अंक : 8

प्रधान सम्पादक
डॉ. पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

मूल्य
इस अंक का मूल्य : 200/- रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 400/- रुपये / त्रैवार्षिक 1200/- रुपये

पंचवार्षिक 2000/- रुपये / आजीवन : 10000/- रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 450/- रुपये / त्रैवार्षिक 1400/- रुपये

पंचवार्षिक 2300/- रुपये / आजीवन : 12000/- रुपये

(केवल मनी आर्डर / चेक / बैक ड्राफ्ट से)
(दरभंगा से बाहर के चेक में 40 रुपये अधिक जोड़ें)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद दरभंगा न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

मुद्रक
विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स
1/10753, गली नं. 3 सुभाष पार्क
नवीन शाहदरा, दिल्ली - 110032

प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्पम नारायण

एसोसिएट प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

सम्पादक मंडल

प्रो. चमनलाल वर्मा

अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

प्रो. साहित्य कुमार नाहर

विभागाध्यक्ष, संगीत एवं मंचकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. रवि कुमार पंडोले

प्रवक्ता, संगीत विभाग, राजकीय एम.एल.बी.जी. पी.जी. कॉलेज, भोपाल

डॉ. रामशंकर

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला विभाग, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात

डॉ. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

डॉ. वेद प्रकाश

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

शिवनारायण महतो

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

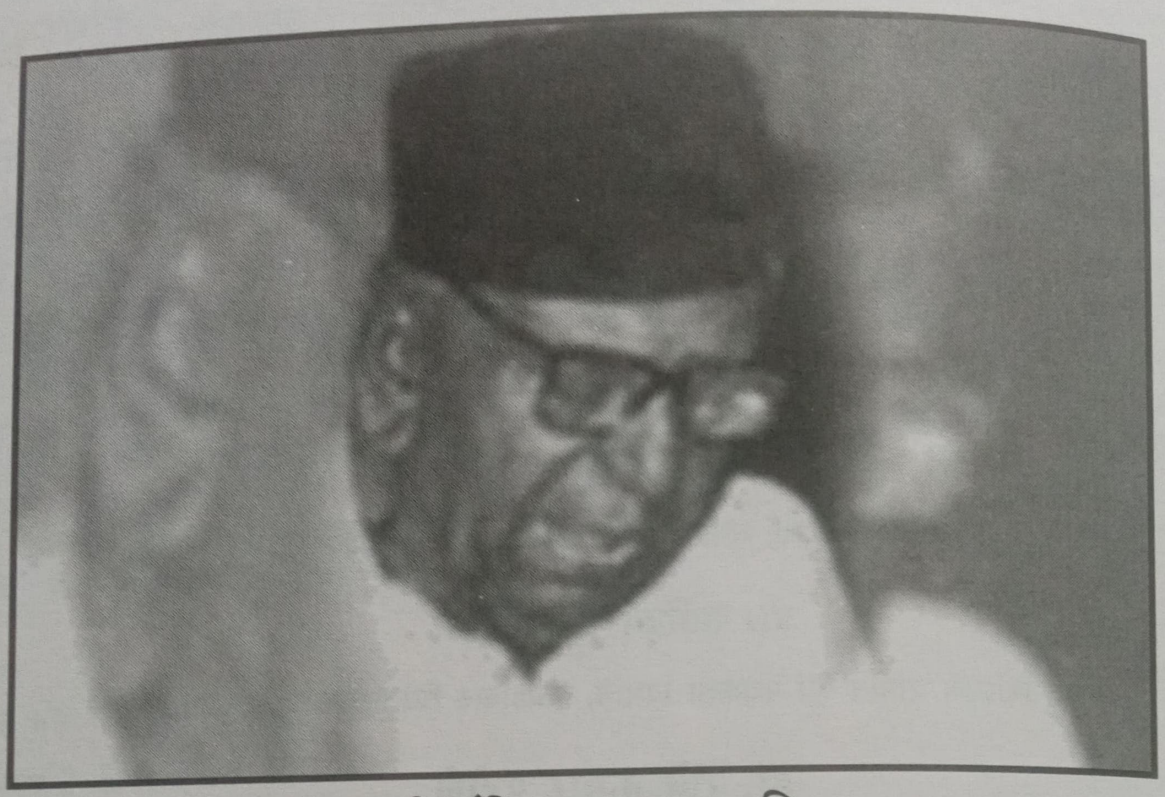

पद्मश्री पंडित रामचतुर मल्लिक

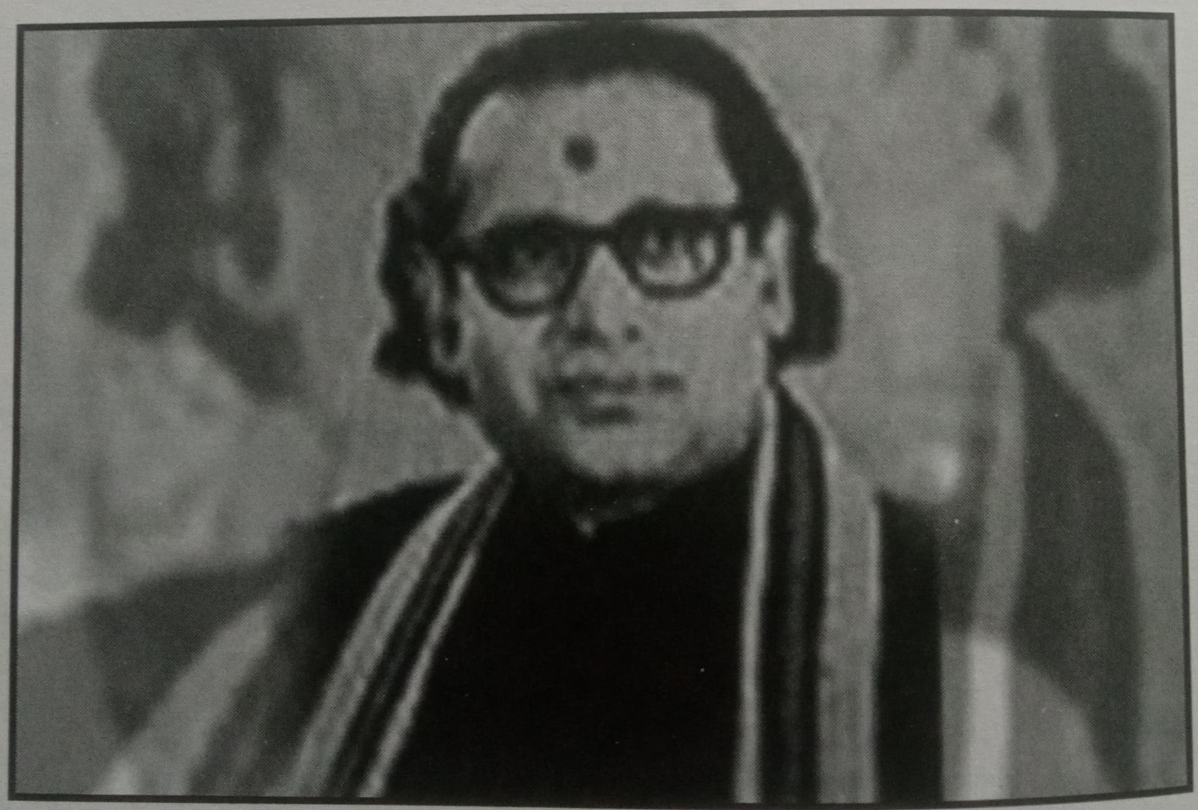

पद्मश्री पंडित सियाराम तिवारी

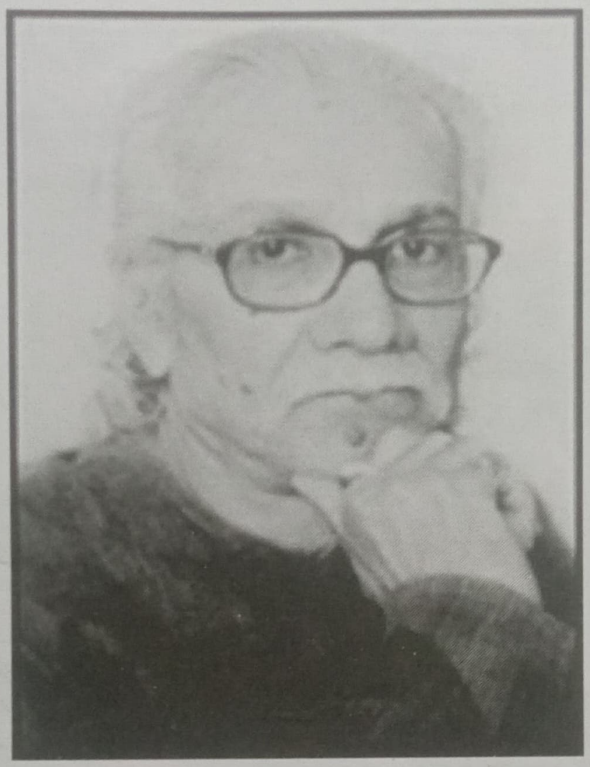

पद्मश्री डॉ. गजेन्द्र नारायण सिंह

पद्मश्री डॉ. शारदा सिन्हा

संपादक की कलम से ...

संगीत के तीनों अंग-गीत, वाद्य और नृत्य में माधुर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि यह कहा जाए कि 'माधुर्य के बिना संगीत निष्प्राण हो जाता है', तो इस कथन को अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि चाहे गायन हो, वादन हो अथवा नर्तन हो-यदि उसमें माधुर्य नहीं है, तो उसे 'बौद्धिक उछल-कूद' ही कह सकते हैं। माधुर्यहीन गायन कंठ का व्यायाम मात्र है। इसी तरह माधुर्यहीन वादन केवल हस्त-संचालन की चातुरी-मात्र है। नर्तन भी मनोहर आंगिक, वाचिक व मानसिक भावाभिव्यक्ति के बिना केवल व्यायाम का रूप ही धारण कर लेता है।

भारतीय कलाओं का तो निर्माण ही इसीलिए हुआ है कि इनके माध्यम से उस आनंदस्वरूप परमात्मा का रसानुभूति के रूप में साधारण जनों को भी अनुभव हो जाए और इस आनंदानुभूति के पश्चात् वे परमानंद की खोज के लिए लालायित हों। इसी दृष्टि से रसास्वाद को 'ब्रह्मानंद-सहोदर' कहा गया है। ब्रह्मानंद का अनुभव करनेवाले ही रस को 'ब्रह्मानंद-सहोदर' कह सकते हैं। इसीलिए माधुर्य (जो भगवती-शक्ति ही है।) अनिवार्य तत्व के रूप में, संगीत-साहित्यादि सभी ललित कलाओं में विद्यमान है और उसकी उपलब्धि नारी-शक्ति के माध्यम से ही होती है।

ऐसे अनेक प्रमाण है जिनसे यह प्रमाणित होता है कि संगीत में माधुर्य की स्थापना का श्रेय भगवती तत्व को ही है। भारतीय संस्कृति में त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और शिव की शक्ति सरस्वती, लक्ष्मी और भवानी मान्य है। इनमें से सरस्वती संगीत की अधिष्ठात्री देवी है। वीणाधारिणी के रूप में इन्हीं की पूजा होती है।

सृष्टि के प्रारंभ से आज तक नारी सुर, नर, मुनि को माता, पत्नी, प्रेयसी, गुरू, शिष्य आदि के रूप में प्रेरित करती आई है। मां सरस्वती ज्ञान की आदि स्रोत है। देवता आदि भी मां शारदा का स्मरण करते आए हैं। यह अलग बात है कि श्री गणेश को प्रथम पूजा जाता है और उन्हें 'विद्यावारिधि बुद्धिविधाता' कहते हैं। यों तो श्री हनुमान् को भी 'विद्यावान गुनी अति चातुर' माना जाता है, किन्तु मुख्य रूप से संगीत की तो एकमात्र सरस्वती ही देवी हैं। वीणावादिनी ने मुनि नारद द्वारा तीनों लोकों में संगीत के ज्ञान का प्रसार कराया। माँ सरस्वती का स्मरण प्रत्येक संगीत से संबद्ध कार्यक्रम के प्रारंभ में किया जाता है। इसके क्षेत्र में भी यदि देखें तो नारी ही प्रेरक शक्ति रही है।

या कुंदेंदुतुषारहारधवला
या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदंडमंडितकरा
या श्वेतपद्मासना।
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिमिर्देवैः
सदा वंदिता सा मां पातु
सरस्वती भगवती निःशेषजाड.यापहा।।

संगीत तथा अन्य समस्त कलाओं और विद्याओं की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती को माना गया है। इनके द्वादश नाम इस प्रकार है-भारती, सरस्वती, शारदा, हंसवाहिनी, जगति, वाणीश्वरी, कौमार, ब्रह्मचारिणी, बुद्धिदात्री, वरदायिनी, क्षुद्रघंटा और भुवनेश्वरी। इन नामों की महिमा इस प्रकार वर्णित है-

ब्राह्मी द्वादशनामानि त्रिसंध्यं यः पठेन्नरः।
सर्वसिद्धिकारी तस्य प्रसन्ना परमेश्वरी।।
सा मे व सतु जिह्वाग्रे ब्रह्मरूपा सरस्वती।

सरस्वती के पारंपरिक रूप-चित्र की प्रतीकात्मक व्याख्या इस प्रकार की जाती है:-

उनकी वीणा उनके संगीत-मर्मज्ञ होने की प्रतीक व प्रमाण है। उनके एक हाथ में पुस्तक है, जो विद्या और कलाओं के सिद्धांतों की व्याख्या, अनुभव-संरक्षण, बुद्धि चातुर्य, स्मृति, शब्द और शब्द-निरूपण, साहित्य के विविध पक्षों की रचना, प्रतिभा और विश्वज्ञान की प्रतीक है। उनका प्रिय श्वेत रंग सत्य और परम ज्ञान का प्रतीक है। उनके एक हाथ में स्फटिक मालिका है, जो इस बात की प्रतीक है कि अन्य सभी कार्य करते हुए मन ब्रह्म नाम का जाप करता रहे, मन का मनका फेरता रहे। उनका वाहन श्वेत हंस है। कहा जाता है कि हंस एक ऐसा पक्षी है जो दूध का दूध और पानी का पानी करने में सक्षम होता है। यह सिद्धांत-विश्लेषण, उचित अनुचित के बोध, सही वस्तु के चयन तथा सही मार्ग के अनुसरण का प्रतीक है। उनका आसन श्वेत कमल है। कमल तालाब में रहकर भी उसमें डूबता नहीं है, अपितु पानी के उपर ही शोभायमान होता है। यह निर्लिप्तता का प्रतीक है। यह प्रेरणा देता है कि संसार में रहते हुए भी मनुष्य निर्लिप्त रहे, कमल के समान खिलता रहे। देवी सरस्वती की प्रेरणा से ही वेदों की रचना हुई है। वस्तुतः सरस्वती ही वेद-वाणी है।

हम सभी माँ सरस्वती के पुजारी हैं। उनकी अराधना के फलस्वरूप ही अपने जीवन के कठिन झंझावातों को पीछे धकेलते हुए 'भैरवी' संगीत शोध-पत्रिका के आठवें अंक के साथ प्रस्तुत हूँ। सम्पादन क्रम में अमित धैर्य और दृढ़ संकल्प का अवलम्ब लेकर इस शोध पत्रिका को शास्त्र सम्मत, तर्क संगत और मर्यादापूर्ण बनाने की कोशिश की गई है। फिर भी मुद्रण संबंधी कठिनाईयों के कारण कोई त्रुटियां रह गई हों तो प्रबुद्ध पाठक क्षमा करेंगे।

—डॉ॰ पुष्पम नारायण
संपादक
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

अनुक्रम

	संपादक की कलम से ...		7
1.	शास्त्रीय संगीत में हुए बदलाव तथा वैज्ञानिक प्रगति का परस्पर संबंध	*डॉ. अनया थत्ते*	11
2.	भारतीय संगीत के संदर्भ में गुरमति संगीत	*डॉ. हरजस कौर*	15
3.	पर्यटन के संदर्भ में भारतीय संगीत परम्परा	*डॉ. रोजी श्रीवास्तव*	24
4.	नवीन वाद्य वर्गीकरण की संभावनाए	*डॉ. अतुल कुमार गुप्ता*	27
5.	ठुमरी के बादशाह नवाब वाजिद अली शाह	*इंदिरा सिंह*	29
6.	संगीत सर्वोत्तम कला	*डॉ. पुष्पम नारायण*	32
7.	संगीत और गान्धर्ववेद	*डॉ. आनन्द कृष्ण ज्योतिषी*	37
8.	सिख धर्म में कीर्त्तन का महत्त्व	*डॉ. जतिन्द्र कौर*	40
9.	संगीत, साहित्य एवं कला की त्रिवेणी : प्रो. सी. एल. दास	*डॉ. रीता दास*	43
10.	हिन्दुस्तानी संगीत में नये रागों का आविष्कार	*पंडित ईश्वरचन्द्र*	47
11.	मानवीय चेतना की कुँजी संगीत चिकित्सा प्रणाली	*डा. गिरिधर कु. श्रीवास्तव,'पुटीश'*	49
12.	परम्परा और संगीत	*डॉ अरविंद कुमार*	54
13.	हवेली-संगीत	*डॉ. प्रियंका*	58
14.	वर्तमान में बदलती शैक्षणिक पद्धति (व्यावसायिक दृष्टिकोण के आधार पर)	*अल्पना*	61
15.	संगीत शिक्षा व मानव जीवन के साथ पारस्परिक सहःसम्बन्ध	*श्वेता राय*	64
16.	सोमेश्वर कृत 'मानसोल्लास' में संगीत (गायन के परिप्रेक्ष्य में)	*प्रियंका तिवारी*	67
17.	भारतीय संगीत में संगीत सम्राट तानसेन का योगदान	*सुरेखा रानी*	71
18.	नवीन तकनीकी एवं प्रयोगों से प्रभावित कलाकार एवं सांगीतिक वाद्य यंत्र	*पूजा द्विवेदी*	74
19.	संगीत शास्त्र और परंपरा	*प्रीति मिश्रा*	77
20.	स्वर वाद्यों में धुन का प्रचलन	*डिम्पल शर्मा*	80
21.	गायन की महिमा-श्रीरामचरितमानस के संदर्भ में	*सुधा रानी*	82
22.	नागार्जुन के काव्य में संगीत तत्व	*आरती*	86
23.	ललित कलाओं में संगीत : सौन्दर्य विषय की दृष्टि से	*दिव्या मिश्रा*	89
24.	सांगीतिक प्रस्तुति सम्बन्धित घटक	*ज्ञान सिंह पटेल*	91

25. स्वर एवं तालिपि पद्धतियाँ : एक विश्लेषण — शालिनी सक्सेना 94
26. स्वतंत्र बाँसुरी वादन का प्रयोगात्मक आधार — शनिश कुमार शावाली 97
27. उत्तर प्रदेश के लोक-संगीत की एक सुहावनी विधा : कजली — तनुजा श्रीवास्तव 100
28. शास्त्रीय संगीत के ताल वाद्यों में लोक रंग के समाहित तत्व — पूजा विश्वकर्मा 102
29. वर्तमान समय में प्राथमिक तथा उच्च शिक्षण संस्थानों में संगीत की स्थिति का आकलन — संदीप कुमार पटेल 105
30. संगीत में लय-ताल का महत्त्व — आनन्द कुमार मिश्र 108
31. संगीत और काव्य अन्तःसम्बन्ध — चन्दन विश्वकर्मा 111
32. संगीत के समाजशास्त्र का अवलोकन — अनामिका प्रकाश 115
32. संगीत का आस्वादन — सिंकी कुमारी 118
33. मौला बख्स खाँ : विद्यालयी संगीत शिक्षा के सूत्रधार — डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे 120
34. संगत में अमीर खुसरो की देन — डॉ. कमलदेव 124
35. संवाद का माध्यम संगीत — डॉ. माधुरी सिंह 127
36. Importance of Modern Inventions in the Music Education — *Dr. Ashwini Kr. Singh* 130
37. Innovations in the field of Traditional Khayal Singing Style — *Gaveesh* 134
38. The Heart Soothing Noise Jazz Music — *Payal Chakravarty* 138

शास्त्रीय संगीत में हुए बदलाव तथा वैज्ञानिक प्रगति का परस्पर संबंध

डॉ. अनया थत्ते

बरसों से संगीत कला को एक प्रायोगिक कला के रूप में ही स्वीकार किये जाने के कारण इस कला से संबंधित शिक्षण, अध्यापन, और अध्ययन आदि का विकास भी इसी दृष्टिकोण से हुआ। पारंपारिक पद्धतियोंसे हटकर अन्य नव नवीन पद्धतियों का उपयोग शास्त्रीय संगीत के अध्ययन तथा अध्यापन में करना पुराने संगीतज्ञों को मंजूर नहीं था। इसके उपरांत भी आधुनिक युग में भी इस संगीत ने अपना स्थान बनाए रखा। आधुनिक युग में जागृतिकरण के परिणामस्वरूप सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक क्षेत्रों में हुए वैचारिक आदान-प्रदान का संगीत के क्षेत्र पर बड़ा प्रभाव रहा है। विज्ञान और विकसित तंत्रज्ञान के प्रभाव से शास्त्रीय संगीत के आंतरिक तथा बाहय स्वरूप में कई बदलाव आए। इनमें से कुछ बदलाव संगीत के क्षेत्र को लाभदायक हैं, तथा कुछ विपरीत परिणामकारक होने की संभावना भी है। शास्त्रीय संगीत के अध्ययन, अध्यापन, व्यावसायिक प्रस्तुतीकरण, लेखन आदि सभी क्षेत्रों में विज्ञान का प्रभाव दिखाई देता है।

वैज्ञानिक प्रगति का आविष्कार :-

इलेक्ट्रॉनिक वाद्ययंत्र -

लगभग 60 वे दशक में हुए डिजिटल उत्क्रांति के कारण संगीत के अध्ययन, अध्यापन, तथा प्रस्तुतीकरण इन सभी के लिए उपयुक्त हो सकें, ऐसे इलेक्ट्रॉनिक वाद्यों के संशोधन पर विचार होने लगा। यद्यपि इस समय तक पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के प्रयोग कुछ मात्रा में अवश्य हो चुकें थे, परंतु हिंदुस्तानी संगीत के लिए उपयुक्त कृत्रिम स्वरनिर्मिति करना यह अभ्यासकों के सम्मुख एक चुनौती थी। इस प्रकार की स्वरनिर्मिति करनेवाले यंत्र बनाना केवल इलेक्ट्रॉनिक्स का ज्ञान रखनेवाले व्यक्ति का काम नहीं था, बल्कि उस व्यक्ति को हिंदुस्तानी तथा कर्नाटकी स्वर और श्रुतियों का ज्ञान होना भी आवश्यक था।

इलेक्ट्रॉनिक वाद्यों की निर्मिति का प्रथम श्रेय बंगलोर स्थित रॅडल कंपनी को जाता है। इस कंपनी द्वारा सर्वप्रथम श्रुति बॉक्स की निर्मिति की गयी। बंगलोर के संगीत अभ्यासक तथा इंजीनियर श्री. जी. राजनारायण इन्होंने स्वतः यह वाद्य संशोधित किए। वे खुद कर्नाटकी संगीत का ज्ञान रखते थें। इसी कारण वाद्य निर्मिति करते समय उन्होंने कलाकारों की अपेक्षाएं तथा जरूरतों का पूर्णतः विचार किया। आज भी इस कंपनी द्वारा हिंदुस्तानी तथा कर्नाटकी संगीत में उपयुक्त कई वाद्यों की निर्मिति हो रही है।

आरंभ में इन वाद्यों से होनेवाली ध्वनि निर्मिति तथा निसर्गतः उपलब्ध वस्तुओं से बने वाद्यों से होनेवाली ध्वनि निर्मिति में अंतर होने के कारण प्रस्तुतीकरण के समय इन वाद्यों के प्रयोग से आवश्यक वातावरण निर्मिति नहीं होती यह भी एक मतप्रवाह प्रचार में था। परंतु अधिक अभ्यास के उपरांत इन वाद्यो की ध्वनि निर्मिति में सुधार कर उन्हें अधिक नैसर्गिक बनाया गया। प्रारंभ में इन सभी वाद्य यंत्रों को सुर में मिलाने का काम स्वतः

असिस्टंट प्रोफेसर, संगीत विभाग, मुंबई विश्वविद्यालय, मुंबई.

कलाकार को करना पडता था। परंतु अब तकनीकी प्रगति के कारण मात्र एक बटन के दबाने पर वाद्य अपने मनचाहे सुर में बजने लगता है। आज इस कंपनी द्वारा डिजिटल तानपुरा, स्वरमंडल, श्रुति बॉक्स, डिजिटल तबला, डिजिटल स्वरमंडल, सुनादमाला तालमाला आदि सहायक वाद्यो की निर्मिति की जा रही है। कर्नाटकी संगीत के लिए इलेक्ट्रॉनिक वीणा जैसे वाद्य भी निर्माण किए गए है।

शास्त्रीय संगीत के अलग-अलग प्रकार के अलंकार, तीनों लय, तथा विविध स्वरों में सिखाने के लिए बनाया गया नया वाद्य रियाज के लिए अत्यंत उपयुक्त साबित हो रहा है। आवश्यकता के अनुसार अलग-अलग रागों में अलंकार बनाने की सुविधा भी इस वाद्य में उपलब्ध है।

इसी प्रकार बनाए गए और एक डिजिटल वाद्य में क्रोमॅटिक अथवा डायटोनिक स्केल के अनुसार सुर मिलाने की सुविधा, तथा श्रुतिबॉक्स तथा अन्य वाद्यों में सुर मिलाने की क्षमता को सुधारने के लिए एक खेल की व्यवस्था की गयी है। अन्य एक वाद्य में कर्नाटक संगीत के 72 मेलकर्ता राग उनकी विस्तृत जानकारी तथा आरोह अवरोह के माध्यम से पहचाने जा सकते हैं।

इन कंपनियों के अलावा भी देश में कई जगह अभ्यासक संगीतोपयोगी वाद्यों की निर्मिति कर रहें है। रागिणी डिजिटल, 107 तालों का ताल तरंग डिजिटल, स्वरांगिनी डिजिटल, मृदंग तालम् नगमा (लेहेरा मशीन), रियाज मास्टर (तबला), आदि वाद्ययंत्र संगीत प्रेमियों में लोकप्रिय हो चुके है। इलेक्ट्रॉनिक तबला जैसे वाद्य में आवश्यकता के अनुसार नए तालों की रचना करने की सुविधा है। डिजिटल तबला में बजती हुई मात्रा की संख्या देखी जा सकती है। इससे संगीत के प्रारंभिक अभ्यासकों को इन वाद्यों से काफी मात्रा में सहायता प्राप्त होती है।

रियाज तथा महफिल दोनों में उपयुक्त, अंतर्गत बैटरी की व्यवस्था, कहीं भी लाने-ले जाने में सुविधाजनक, अत्यंत अल्प जगह को व्याप्त करनेवाले यह वाद्य आज शास्त्रीय संगीत के विद्यार्थी, शिक्षक, तथा कलाकारों की आवश्यकता बन गए है।

प्रचार प्रसार के माध्यमों में हुए परिवर्तन

प्राचीन काल से शास्त्रीय संगीत का प्रचार प्रसार, महफिल, जलसा, कॉन्फ्रेंस आदि माध्यमों द्वारा किया जाता था। परंतु इलेक्ट्रॉनिक टेक्नॉलॉजी की सहायता से इन कलाकारों की कला को आनेवाली पीढ़ियों के लिए ध्वनिमुद्रण के रूप में स्वरूप जतन करना संभव हुआ है, जिससे श्रोताओं को अपने चहेते कलाकार की महफिलों का आनंद ध्वनिमुद्रण के माध्यम से बारबार लेना संभव हुआ है। इन कार्यक्रमों का टी.वी., व्ही.सी.डी. हैंडीकैम, के माध्यम से दृश्य-श्रव्य स्वरूप में भी जतन हो रहा है। एच. एम.व्ही., टी.सीरीज, टिप्स, वीनस जैसी राष्ट्रीय स्तर की कंपनियों ने कई लोकप्रिय कलाकारों का ध्वनिमुद्रण कर भारतीय संगीत के जतन में महत्त्वपूर्ण येागदान दिया है। ऑडियो सीडीज् के पश्चात आए एमपीथ्री फॉर्मेट सीडीज में लगभग चालीस से पचास घंटों का ध्वनिमुद्रण संग्रहित करने की क्षमता होती है।

आज से लगभग पचास साल पहले शास्त्रीय संगीत के प्रचार के लिए दूरदर्शन, आकाशवाणी तथा अन्य निजी वाहिनियों द्वारा विशिष्ट कालावधि में किए गए कार्यक्रम यही माध्यम उपलब्ध थे। संगीत से संबंधित अलग-अलग संस्था तथा निजी संग्रहालयों द्वारा कलाकारों की कला के श्रवण सत्रों का आयोजन किया जाता था।

वैज्ञानिक प्रगति के कारण आज संगीत के प्रचार-प्रसार की कक्षाऐं विस्तृत हुई है। सैटेलाईट टेक्नॉलॉजी पर आधारित निजी रेडिओ वाहिनी को आवश्यक मासिक, त्रैमासिक शुल्क अदा करने के उपरांत हम विश्व के किसी भी प्रदेश का संगीत चौबीसो घंटे घर बैठकर सुन सकतें है। शास्त्रीय संगीत के श्रोताओं के लिए गंधर्व वाहिनी की भी व्यवस्था इसमें है। इस वाहिनी पर हम शास्त्रीय संगीत के दिग्गज कलाकारों से वार्तालाप, जुगलबंदी, इस क्षेत्र में होनेवाले नव नवीन प्रयोग, गायन वादन के कार्यक्रमों का आस्वाद दिन विशेष के अनुसार ले सकते है।

संगीत के प्रचार प्रसार में माइक्रोफोन से संबंधित विकास का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। पहले जब शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रम होते थे, तब

माइक्रोफोन के अभाव के कारण उन कार्यक्रमों में आगे बैठा हुआ श्रोतावर्ग ही कला का आस्वाद अच्छी तरह से ले पाते थे। परंतु माइक्रोफोन की खोज के उपरांत ध्वनि संबंधित सभी त्रुटियाँ दूर हो गयी। माइक्रोफोन के कारण कलाकार के प्रस्तुतीकरण के मींड, कण, गमक आदि सूक्ष्म अलंकरण भी स्पष्टता से सुनाई देते है। दूसरी ओर माइक्रोफोन अतिसंवेदनशील होने के कारण कलाकार द्वारा प्रस्तुतीकरण में हुई छोटी सी भूल भी स्पष्ट हो जाती है। इसी कारण माइक्रोफोन पर गाने के लिए विशिष्ट आवाज साधना का विकास हुआ। आज संगीत के कार्यक्रमों में अलग-अलग जगह पर लगाए गए ध्वनिविस्तारक यंत्रों की सहायता से कलाकार के प्रस्तुतीकरण को सूक्ष्मता से ग्रहण कर श्रोतावर्ग सौंदर्य का आस्वाद ले सकतें है। कार्यक्रम के लिए बनाए गए रंगमंच की प्रकाश व्यवस्था तथा भव्यता की ओर भी विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है।

आज के युग में बहुगुणी संगणक ने लोगों की जिंदगी में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। संगीत के क्षेत्र में भी इस यंत्र का उपयोग अलग-अलग कारणों के लिए होने लगा है। आज हिंदुस्तानी संगीत जैसे पारंपारिक संगीत के विविध अंगों पर संगणक की सहायता से संशोधन हो रहे है। तंत्र ज्ञान में अत्यधिक विकास के कारण अलग-अलग स्वरों की कंपन संख्या संगणक में डालकर तानें तथा बंदिशों की स्वरलिपियाँ निकालना आसान हो गया है। संगणक के माध्यम से दूर शिक्षा द्वारा संगीत अध्ययन तथा अध्यापन शक्य हो चुका है। संगीत सीखने के लिए अलग-अलग संकेत स्थल इंटरनेट पर उपलब्ध है। इस प्रकार इंटरनेट द्वारा संगीत के क्षेत्र में व्यावसायिक स्तर पर आदान-प्रदान हो रहा है।

प्राचीन काल में संगीत कला का अध्ययन तथा अध्यापन मौखिक परंपरा से होता था। परंतु मध्यकाल से संगीत का शास्त्र भी विकसित होने लगा। मध्यकाल में संगीत के शास्त्र पर जिन ग्रंथों की निर्मिति हुई, वह सब हस्तलिखित के रूप में थें। आधुनिक युग में मुद्रणकला में हुए विकास के साथ संगीत विषय पर कई ग्रंथ तथा किताबें उपलब्ध है। इंटरनेट पर भी शास्त्रीय संगीत से संबंधित ऐसे कई फोरम है, जहाँ अभ्यासक, कलाकार, श्रोता अपने विचार प्रदर्शन कर उन पर चर्चा कर सकतें है। आजकल ब्लॉग की संकल्पना भी रूढ हो रही है, जहाँ विशिष्ट विषय से संबंधित साहित्य वाचकों को उपलब्ध कराया जाता है। ई जर्नल के माध्यम से भी अभ्यासक अपने साहित्य को इंटरनेट पर प्रकाशित कर सकता है।

वैज्ञानिक प्रगति के दुष्परिणाम

वैज्ञानिक प्रगति के कारण शास्त्रीय संगीत के प्रचार-प्रसार की कक्षाऐं विस्तारित होने के साथ ही कुछ दुष्परिणाम भी नजर आ रहें है, जिन पर अगर सही समय पर उपाययोजना नहीं की गयी, तो भविष्य में शास्त्रीय संगीत का पारंपारिक स्वरूप क्षतिग्रस्त होने का धोखा निर्माण होने की संभावना हैं।

1) गुरू के अभाव में शिक्षण -

परंपारिक पद्धति के सीना-ब-सीना तालीम का महत्त्व आज नष्ट होता हुआ दिखाई दे रहा है। पहले गुरू के सामने बैठकर अत्यंत श्रद्धापूर्ण तरीके से स्वरों का लगाव, ताल, रागस्वरूप आदि का अभ्यास किया जाता था। जिसके कारण शिष्य ने रागस्वरूप आत्मसात किया है, तथा उसका प्रस्तुतीकरण सही प्रकार से किया जा रहा है इस पर गुरू की नजर रहती थी। शिष्य के द्वारा की गयी छोटी सी गलती भी गुरू को मान्य नहीं होती थी। परंतु आज वैज्ञानिक प्रगति के कारण गुरू का महत्त्व कम हो रहा है, जो शास्त्रीय संगीत जैसी कला के लिए निश्चित ही हानिकारक है। शास्त्रीय संगीत के अधिकांश कलाकारों की कला आज हमें इंटरनेट पर उपलब्ध है। उसी आधार पर कम समय में ज्ञान संपादित कर लोकप्रियता प्राप्त करने के मार्ग पर आज की युवा पीढी चलती हुई नजर आती है। आज का युवा कलाकार किसी ना किसी बड़ें कलाकार की नकल उतारने में ही धन्यता महसूस करता है उसके कला प्रदर्शन में विशिष्ट दृष्टिकोण का अभाव दिखाई देता है।

2) स्वर साधना की कमी-

वैज्ञानिक प्रगति के साथ माइक्रोफोन महफिल का आवश्यक घटक बन गया है। ध्वनिमुद्रण में हुए विकास के कारण कला प्रस्तुतीकरण के समय हुए दोषों का निर्मूलन आसानी से हो सकता है। मात्र इसी कारण आज के युवा कलाकारों में लापरवाही बढ़ती जा रहीं है। पहले, प्रत्यक्ष राग का रियाज करने से पूर्व स्वरसाधना करना आवश्यक समझा जाता था। शास्त्रीय संगीत के लिए आवश्यक आवाज तैयार करना इसी उद्येश्य से स्वरसाधना की जाती थी। आज संगणकीय करामात से यह परिणाम ध्वनिमुद्रण में डालें जा सकतें हैं, तथा विशिष्ट माइक्रोफोन के उपयोग द्वारा भी यह परिणाम प्राप्त होतें है।

3) पाश्चात्य संगीत का प्रभाव -

फ्यूजन संगीत ने भी भारतीय शास्त्रीय संगीत पर अतिक्रमण किया है यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी। अलग-अलग इलेक्ट्रॉनिक तथा पाश्चात्य वाद्य, तथा भारतीय शास्त्रीय संगीत के मिश्रण से तैयार हुए इस संगीत के आकर्षक तथा लयप्रधान स्वरूप ने युवा पीढी को जैसे मोहित किया है। मात्र इस संगीत में जिन रागों का मिश्रण किया जाता है, उनके स्वरूप की शुद्धता के विषय में बडी संदिग्धता निर्माण होती है। परिणामस्वरूप केवल इसी प्रकार का संगीत सुननेवाले श्रोता उन्हीं राग स्वरूपों को शुद्ध मान लेते है।

4) स्वरज्ञान की क्षमता पर परिणाम -

केवल एक बटन दबाने पर मनचाहा स्वर प्राप्त होने के कारण आज शास्त्रीय संगीत का विद्यार्थी इलेक्ट्रॉनिक वाद्यों के इतना अधीन हो चुका है, की इनके अभाव में प्रत्यक्ष तानपूरे के साथ गाते समय उनका आत्मविश्वास नष्ट हो जाता है। तानपूरा सही सुर में मिलाने के लिए जिस स्वर ज्ञान क्षमता की आवश्यकता है, उसी का अभाव इन विद्यार्थियों में दिखाई देता है।

5) महफिलों का आकर्षण कम हुआ -

पहले किसी कलाकार की शास्त्रीय संगीत की महफिल को सुनने के लिए श्रोता वर्ग दूर-दूर तक जाते थें। कलाकार महफिल में कौन सा राग प्रस्तुत करनेवाला है, इसके बारे में भी उनमें उत्सुकता होती थी। इन कार्यक्रमों के बाद भी कई दिनों तक उनकी चर्चाएं होती थी। परंतु आज श्रोताओं को रेडिओ, सीडीज्, वर्ल्ड स्पेस रेडिओ, इंटरनेट, आयपॅड जैसे साधनों की उपलब्धि के कारण श्रोता अपने मनपसंद कलाकार की कला का आस्वाद घर बैठे ले सकता है। जिसके द्वारा आज कलाकारों की महफिलों में भी श्रोताओंकी संख्या कम होती हुई दिखाई देती है।

परिवर्तन सृष्टि का नियम है। अपना जीवन सुखमय तथा आनंदमय बनाने के लिए मनुष्य निरंतर ही इस परिवर्तन को स्वीकार करता आ रहा है। बीसवी शताब्दी टेक्नॉलॉजी युग होने के कारण इस शतक में हरेक क्षेत्र को परिवर्तन का स्वीकार करना पड़ रहा है। नित नए संशोधनों के कारण भारतीय संगीत का पारंपारिक स्वरूप जतन करना हमारे लिए एक चुनौती है। उसमें भी आधुनिक पीढी को पाश्चात्य संगीत का आकर्षण अधिक होने के कारण युवा पीढी में शास्त्रीय संगीत सीखनेवालों की संख्या कम हो रही है। इस कला को सतत प्रवाहित रखने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति पर आधारित नवनवीन माध्यमों का उपयोग करना शास्त्रीय संगीत की दृष्टिकोण से अपरिहार्य बन गया है। इन सभी साधनों का सजगता से तथा मार्गदर्शक की उपस्थिति में किया गया उपयोग भारतीय संगीत के लिए निश्चित ही वरदानस्वरूप होगा।

भारतीय संगीत के संदर्भ में गुरमति संगीत

डॉ0 हरजस कौर

गुरमति संगीत परंपरा स्वतंत्र, मौलिक और विलक्षण पहचान रखती है। इसके यह गुण इसके संगीत प्रबंध में कार्यशील समूह संगीत रूप, तत्व और उपकरणों से है। इस परंपरा की पृष्ठभूमि, उत्पति और विकास से जो विलक्षणताएं प्रगट होती है, उन्हीं के आधार पर स्पष्ट है कि इस परंपरा ने प्रति उपयोग रूप, तत्व और उपकरणों को मौलिक विधि द्वारा इस्तेमाल किया है। सीधे तौर पर गुरमति संगीत मार्गी और देशी संगीत के गुणों को व्यावहारिक तौर पर विशिष्ट पहुंच द्वारा अपना रहा है। शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत जो कि मार्गी और देशी संगीत का ही परिवर्तित रूप हैं, में अध्यात्मिक संगीत (समूह धार्मिक संगीत परंपराएं) भी सम्मिलित हो गया है। गुरमति संगीत में सम्मिलित इन परंपराओं का अलग-अलग अध्ययन इसके प्रबंध की मौलिकता प्रगट करने और विलक्षण पहचान में सहायक है। इसी संदर्भ में शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से गुरमति संगीत के तत्वों को पहचानने का यत्न किया है। यह यत्न इसलिए है ताकि गुरमति संगीत प्रबंध भारतीय संगीत में स्वतंत्र तौर पर अलग पहचाना जा सके। इससे पहले कि हम गुरमति संगीत प्रबंध में शास्त्रीय संगीत के विभिन्न तत्वों की पहचान और प्रयोग को विश्लेषित करें, आवश्यकता है पहले इन तत्वों की पहचान कर ली जाए।

गुरमति संगीत में प्रयुक्त राग का भारतीय शास्त्रीय सांगीतिक संदर्भ :-

राग भारतीय संगीत की मूल इकाई है। भारतीय संगीत विशेष तौर पर शास्त्रीय संगीत की समुच्च कार्य विधि/ कला प्रदर्शन राग, राग रूप और राग के बहुपक्ष प्रयोग पर ही आधारित है। इस राग को भारतीय संगीत और गुरमति संगीत दोनों में ही भरपूर रूप से प्रयोग किया है, जिसने भारतीय संगीत में से ही गुरमति संगीत में प्रवेश किया है पर इन दोनों परंपराओं में राग का प्रयोग और महत्त्व अलग-अलग है।

राग भारतीय संगीत का प्रमुख तत्व है। भारतीय संगीत और इसकी विभिन्न धाराएँ में इसका केन्द्रकारी महत्त्व है। यदि राग को शास्त्रीय संगीत की जान कहा जाए तो कोई अति कथनी नहीं होगी। इसका मूल गुण रंजकता है। राग के बिना भारतीय संगीत की कल्पना असंभव है। सदियों से विकसित और संगीत शास्त्र द्वारा प्रमाणित शास्त्र में राग अपने सुरात्मिक स्वरूप, विभिन्न सिरजात है जो अपने श्रोता के मन को बाहरी और अंतरीवी तौर पर वशीभूत करने का सामर्थ्य रखता है। रंजकता प्रदान करने के साथ यह अपने सुरात्मिक स्वरूप द्वारा बाहरी आकर्षण से अलग करके आनंद की दशा में ले जाता है और इस समय इस राग के माध्यम द्वारा गायन किया विषय वस्तु, श्रोता के मन में उतरने और बसने का सामर्थ्य रखता है। साधारण रूप में सांसारिक संगीत (शास्त्रीय संगीत या लोक संगीत) हमारी सांसारिक, मानसिक रूचि की तृप्ति/भाव विवेचन करता है और जब इस द्वारा इलाही वाणी यह किसी आध्यात्मिक काव्य का गायन किया जाता है तो उस तरह का आध्यात्मिक बोध और प्रभुता का सहज आभास करवाने की सामर्थ्य रखता है। दूसरे शब्दों में शास्त्रीय संगीत, अर्थ-शास्त्रीय संगीत

एसोसियेट प्रोफेसर, गायन विभाग, गवर्नमेंट कॉलेज, रोपड़

एक कलात्मिक आनंद प्रदान करता है। क्योंकि यह मानव मन को अपने रागात्मिक सुमोहन द्वारा वश करने के समर्थ्य गुण है। क्योंकि यह समय, स्थान और प्रकृति अनुसार परिवर्तनशील है। शास्त्रीय, अर्ध शास्त्रीय संगीत, लोक और भक्ति संगीत में इसका विभिन्न प्रयोग इस बात का साक्षी है कि इसके द्वारा प्रत्येक स्थान, वर्ण, जाति लोगों को अपनी बात कही जा सकती है। ऐसे गुणों से ही गुरमति संगीत में भारतीय शास्त्रीय संगीत के इस महत्त्वपूर्ण तत्व राग को केन्द्रीय संगीत इकाई के तौर पर अपनाया गया है।

गुरमति संगीत में राग का प्रयोग :-

गुरमति संगीत में राग का प्रमुख स्थान है। गुरमति संगीत में राग केवल नाम से ही शास्त्रीय संगीत के तत्व के तौर पर विद्यमान नहीं बल्कि इसके साथ इसके रागात्मिक स्वरूप, भाव स्वर, आरोह-अवरोह, ग्रह स्वर, अंश, न्यास, वादी, सम्वादी आदि तत्व भी शास्त्रीय संगीत के विभिन्न तत्वों के तौर पर उजागर होते हैं। मध्यकालीन शास्त्रीय के संदर्भ में देखें या राग लक्षण, राग रागिनी वर्गीकरण की एक विशाल परंपरा गुरमति संगीत के साथ संबंधित है और गुरमति संगीत में राग के प्रयोग को समझने के लिए इन तत्वों की व्यावहारिकता पहचान अनिवार्य है। राग के विभिन्न स्वरूप, राग प्रकार, मिश्रित राग, राग अंग यह सारा राग संसार भारतीय शास्त्रीय संगीत में से ही गुरमति में प्रयोग हो रहा है।

गुरमति संगीत में राग के प्रमुख और केन्द्रीय स्थान का स्पष्ट उदाहरण इस परंपरा के आधार ग्रंथ श्री गुरू ग्रंथ साहिब जी की रागात्मिक संवेदना है। इसमें वाणी संकलन के वर्गीकरण का आधार रागात्मिक है। विभिन्न रागों से सिरलेखों के अधीन पहले गुरू साहिबान और फिर संत भक्तों की वाणी को अंकित किया गया है। इसके अनुसार प्रत्येक राग में पहले महला 1 श्री गुरू नानक देव जी और फिर क्रमवार महला 2 और गुरू साहिबान की वाणी दर्ज है। इस वाणी में पहले वाणी के सनातनी काव्य रूप और फिर लोक काव्य रूपों को अंकित किया गया है। श्री गुरू ग्रंथ साहिब में दर्ज सूची भी प्रयुक्त रागों के अनुसार है जिसमें हम मुख्य राग (शुद्ध राग) मानते हैं क्योंकि इन रागों के अंतर्गत और राग भी दर्ज है। इन रागों में वाणी की अंकण एक विशेष प्रकार की अंक गिनती अनुसार है। जिसमें किसी राग में अलग-अलग काव्य रूप में अलग-अलग गुरू साहिबान की वाणी को अंकों द्वारा दर्शाया गया है। उदाहरण के रूप में श्री गुरू ग्रंथ साहिब में पन्ना 157 पर राग गउड़ी बैरागिनी अधीन श्री गुरू नानक देव जी की वाणी के अंत में अंक 4//2//19 इस प्रकार दर्ज है। जिसमें भाव है कि श्री गुरू नानक देव जी के दो शब्द राग गउड़ी बैरागिनी में चउपदे काव्य रूप में है और कुल 19 शब्द इस राग में हो गए है। श्री गुरू ग्रंथ साहिब में उपरोक्त विश्लेषण से राग का प्रयोग और महत्त्व स्पष्ट है जिसमें राग वर्गीकरण, लेखन और अंक में विशेष महत्त्व दिया गया है। यह महत्त्व अंकण समय संकलन तक ही सीमित नहीं बल्कि राग को श्री गुरू ग्रंथ साहिब में एक विशेष माध्यम के तौर पर अपनाया गया है।

राग के शास्त्रीय स्वरूप और गुणात्मिक लक्षणों में संबंध में उक्त चर्चा के संदर्भ में गुरमति संगीत में प्रयुक्त राग और इस संबंधी विश्लेषण से स्पष्ट है कि गुरू साहिबान मध्यकालीन राग परंपरा को दृष्टिगोचर रखते हुए विधि का प्रयोग कर रहे हैं। गुरमति संगीत की मौलिक भिन्नता को निम्नलिखित अनुसार विभाजित कर सकते हैं:-

मुख्य राग - श्री गुरू ग्रंथ साहिब में सूची और सिरलेख अनुसार 31 रागों को मुख्य राग कहा जाता है। जैसे-श्री, माझ, गउड़ी आसा आदि।

मिश्रित राग - मिश्रित राग मुख्य राग के साथ एक और राग मिलाकर संयुक्त रूप में पेश किए गए हैं। यह 31 मुख्य रागों के अंतर्गत दर्ज है। उदाहरण के तौर पर राग गउड़ी पूरबी की राग गउड़ी और पूरबी की मधुर स्वरावली के मेल से रचना होती है।

दक्षिणी राग - भारतीय संगीत में उत्तर (हिन्दुस्तानी) और दक्षिणी (कर्नाटकी) संगीत पद्धति प्रचार में है। श्री गुरू नानक देव जी ने वाणी का संदेश लोगों तक पहुंचाने के लिए दोनों पद्धतियों के रागों का प्रयोग किया। श्री गुरू ग्रंथ साहिब में दक्षिणी पद्धति के रागों के साथ दक्षिणी शब्द अंकित

है जैसेः-गउड़ी दक्षिणी, वडहंस दक्षिणी, रामकली दक्षिणी आदि। इन रागों के नादात्मिक स्वरूप भी कर्नाटकी पद्धति में ही मिलते हैं।

ऋतु आधारित राग - गुरमति संगीत परंपरा में मौसमों पर भी रागों का पहरा है। इन रागों में दर्ज वाणी के साधारण पाठ से ही संबंधित मौसम का आभास हो जाता है। श्री गुरू ग्रंथ साहिब में बसंत और मल्हार मौसमी राग है। गुरमति संगीत में इन रागों के संबंधित मौसम समय गायन करने की विशेष परंपरा है। बसंत ऋतु से होली तक राग बसंत का गायन प्रत्येक चौकी में करने की प्रथा है। इस तरह राग मल्हार का सावन महीने प्रत्येक खुशी, गम के अवसर पर गायन किया जाता है।

सनातनी राग :- गुरमति संगीत में वाणी की सफल प्रस्तुति के लिए सनातनी काव्य रूपों के लिए शुद्ध रूप में मार्गी या स्थापित रागों का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के तौर पर प्रबंध गायन शैली के काव्य रूप अष्टपदी के लिए प्रयोग किये राग-सिरी, माझ, गउड़ी, गुजरी, रामकली, प्रभाती सनातनी राग है।

देसी राग :- गुरमति संगीत में गुरू साहिबान ने देशी, क्षेत्रीय, जातियों में प्रचलित संगीत से विकसित देशी रागों को भी प्रयोग किया। उदाहरण के तौर पर माझ, आसा, तिलंग देशी राग है।

भारतीय राग वर्गीकरण और गुरमति संगीत :-

भारतीय संगीत में राग वर्गीकरण के समय-समय पर विभिन्न मत प्रचार में रहे हैं। मध्यकाल में रागिनी वर्गीकरण, रागांग वर्गीकरण, मेल वर्गीकरण, प्रचार में थे। मध्यकाल में प्रचलित राग रागिनी वर्गीकरण आरंभ से ही वाद-विवाद का शिकार रहा है। इन वर्गीकरणों ने भारतीय संगीत को नई दिशा प्रदान करने की बजाए अनेक मत, वाद-विवाद और उलझनों को जन्म दिया है। विद्वानों की तरफ से रागों के स्वरूपों संबंधित भी कई मत मतांतर पाए जाते हैं। ऐसे समय गुरू साहिबान ने राग रागिनी वर्गीकरण के वाद-विवाद से निर्लेप रहते हुए एक मौलिक और नवीन राग वर्गीकरण की स्थापना की। इस नवीन मौलिक प्रबंध को जानने के लिए पहले श्री गुरू ग्रंथ साहिब में राग के संबंध में दर्ज फरमानों को ध्यान देना युक्त प्रतीत होता हैः-

केते राग परी सिउ कहीअनि।।1
राग रतन परवार परीआ।।2
इक गावहि राग परीआ रागि न भीजई।।3

इन फरमानों से स्पष्ट है कि गुरू साहिबान ने राग रागिनी वर्गीकरण को मान्यता नहीं दी। श्री गुरू ग्रंथ साहिब में सिरलेख के तौर पर कहीं भी रागिनी शब्द नहीं मिलता अपितु धनासरी, गउड़ी, सुही, रामकली आदि। उदाहरण के तौर पर किया गया राग वर्गीकरण गुरमति संगीत के लिए अति लाभदायक और भारतीय संगीत के लिए दिशा पूर्ण है। इसमें रागों का वर्गीकरण सीधे और सजल विधि द्वारा किया गया है। जिसमें शुद्ध, सनातनी मुख्य रागों अधीन उनके प्रकारों को निर्धारित किया गया है। इस वर्गीकरण में शुद्ध, छायालग, संकीर्ण रागों के अनुसार वर्गीकरण किया गया है।

शुद्ध राग- शुद्ध राग वह है जिन रागों का स्वरूप सभी रागों से पूर्ण तौर पर भिन्न होता है, जिसमें किसी और राग की छाया दृष्टिगोचर नहीं होती। उदाहरण के तौर पर श्री गुरू ग्रंथ साहिब में दर्ज सूची में 31 राग शुद्ध राग है।

छायालग राग- छायालग रागों की उत्पति दो रागों के मिश्रण से होती है। जैसे राग गउड़ी माझ की रचना गउड़ी और माझ (गउड़ी माझ) की मधुर स्वरावली के मिश्रण से है। इसके अलावा गउड़ी दीपकी गउड़ी चैती, आसा काफी आदि छायालग राग है।

संकीर्ण राग - शुद्ध और छायालग रागों के मेल से संकीर्ण राग बनता है। इसमें तीन राग और तीन से ज्यादा राग भी पाये जाते हैं। श्री गुरू ग्रंथ साहिब में राग गउड़ी पूरबी दीपकी संकीर्ण राग है। इसमें गउड़ी पूरबी दीपकी तीन रागों का मिश्रण है।

गुरमति संगीत में विभिन्न गायन शैलियों के लिए विभिन्न रागों का प्रयोग किया है। यह राग संबंधित शैली की प्रकृति के अनुसार अति उचित है। राग और गायन शैली की यह 8 मेल वाणी के अंतरीवी भावों को रसात्मिक तौर पर कायम रखने में सहायक होता है। श्री गुरू ग्रंथ साहिब में यहां

सनातनी काव्य रूपों का प्रयोग किये गए राग भी प्रकृति के अनुकूल हैं। उदाहरण के तौर पर राग सिरी-पहरे, राग गउड़ी-छंत, राग माझ-वार, राग मंगलमई शब्द, राग मारू सोहले, राग तुखारी-बारहमाह आदि शैली के धारणी हैं।

गुरू साहिबान ने वाणी का संदेश समस्त लोक तक पहुंचाने के लिए राग का प्रयोग श्रोता की मनोदशा की दृष्टिकोण से किया जैसे कि राग रामकली नाथ और योगियों का प्रिय राग है। श्री गुरू नानक देव जी की सिद्धों के संबंध में उच्चारण की गई वाणी सिद्ध दक्षिणी ओंकार राग रामकली में है। इसमें नाथ योगियों के योग सिद्धांतों का वर्णन है।

गुरमति संगीत में प्रयुक्त गायन शैलियाँ :-

गुरमति संगीत में वाणी की प्रस्तुति लिए अलग-अलग कीर्तन गायन शैलियों का प्रयोग किया गया है। इन गायन शैलियों में भारतीय शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत का नक्शा उजागर होता है। गुरमति संगीत का एक नवीनतम प्रबंध और अमूल्य अनुशासन है। इसकी यह विलक्षणता ही इसको भारतीय संगीत से अलग करती है परंतु क्यों इस संगीत परंपरा में प्रयुक्त संगीत के तत्व भारतीय शास्त्रीय संगीत में से ही लिए गए हैं। इसलिए इनकी पहचान और विश्लेषण दोनों परंपराओं के संदर्भ में ही किया जाना बनता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रबंध, ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी, टप्पा आदि गायन शैलियां प्रचार में है। इन गायन शैलियों का मनोरथ अपने विशिष्ट स्वरूप और शास्त्रीय नियमों पर आधारित विलक्षण पहचान द्वारा कलात्मिक आनंद सिरजना है। सदियों के परंपरागत रियाज द्वारा ही इन शैलियों ने गायक व्यक्तित्व को एक अमीर पृष्ठभूमि विस्तृत और प्रभावी सौन्दर्यात्मिक क्षेत्र प्रदान किया है। व्यक्तित्व प्रतिभाओं ने इन शैलियों को समय-समय पर निखारा और संवारा है। इन शैलियों की गुरमति संगीत में भी प्रयोग किया गया है। अंतर केवल यह है कि गुरमति संगीत के अनुशासित अधीन कलात्मिक आनंद की बजाए इनका प्रयोजन अध्यात्मिक आनंद की प्राप्ति है। यहां इन शैलियों को संगीतक नाम की बजाए वाणी प्रधान होने से काव्य नाम दिया गया है। विभिन्न काव्य रूप विभिन्न शास्त्रीय और लोक गायन शैलियों पर आधारित है। शास्त्रीय काव्य रूप सीधे तौर पर शास्त्रीय गायन शैलियों में संबंध रखते हैं। शास्त्रीय गायन शैलियों में प्रत्येक शैली का अपना रूप विद्यमान है।

अष्टपदी वाणी रूप प्रबंध गायन के रूप में:-

भारतीय संगीत में मध्यकाल में प्रचलित प्रबंध शैली के चार अंग उदग्राह, मेलापक, ध्रुव, आभोग है। यह चार धातु के नाम साथ भी जाने जाते हैं। गीत का आरंभिक भाग भाव जहां से गीत की शुरूआत होती है, उदग्राह कहलाता है। प्रबंध का पहला भाग उदग्राह और तीसरा भाग ध्रुव के संजोग से मेलापक बनता है। ध्रुव प्रबंध शैली का अहम अंग है। जो स्थाई या टेक के तौर पर विद्यमान है। इसका गायन गीत में बार-बार किया जाता है। प्रबंध गान का अंतिम और चौथा भाग आभोग है। जिसपर प्रबंध गान की समाप्ति होती है। गुरमति संगीत में प्रबंध अंग से अष्टपदी शैली का गायन किया जाता है। गुरमति संगीत में श्री गुरू नानक देव जी, श्री गुरू अमरदास जी, श्री गुरू रामदास जी, श्री गुरू अर्जुन देव जी ने अपनी वाणी के गायन के लिए प्रबंध शैली का प्रयोग किया। श्री गुरू ग्रंथ साहिब में दर्ज अष्टपदी की रहाउ की तुक से पहला बंद उदग्राह धातु है। उदग्राह से बाद रहाउ की तुक ध्रुव है जो स्थाई के तौर पर क्रियाशील रहती है। प्रबंध के दो धातु उदग्राह और ध्रुव के बिना शेष तुकों का अंतरे के रूप में गायन किया है।

पद वाणी रूप ध्रुपद गायन के रूप में :-

ध्रुपद भारतीय संगीत की प्रतिनिधि गायन शैली है। ध्रुपद से स्थाई, अंतरा, संचारी, आभोग भिन्न-भिन्न अंग है। ध्रुपद में स्थाई को मुख्य अंग माना जाता है क्योंकि गत के संपूर्ण विस्तार और लयकारियों के लेने के बाद इसी भाग का ही गायन किया जाता है। अंतरे का गायन ध्रुपद के पहले चरण के बाद किया जाता है। इस भाग का गायन आमतौर पर गंधार,

मध्यम या पंचम स्वर से शुरू करके अंत मध्य षडज पर अंत करते हैं। संचारी चरण में कलात्मिक पक्ष से स्वरों का प्रयोग किया जाता है। इसमें गमक, मींड का ज्यादा प्रयोग होता है। ध्रुपद के अंतिम चरण आभोग का चलन अंतरे की तरह होता है और इसका गायन तीनों सप्तकों में किया जाता है। भारतीय संगीत में प्रचलित ध्रुपद के इसी पैटर्न पर गुरमति संगीत प्रबंध के अंतर्गत पद काव्य विशिष्ट रूप में अनुशासित किया जाता है। गुरमति संगीत परंपरा अंतर्गत लगभग समूह गुरू साहिबान और भक्तों ने वाणी रचना के लिए इस शैली का प्रयोग किया। श्री गुरू ग्रंथ साहिब में सभी शैलियों से ज्यादा पद शैली का प्रयोग किया गया है। इस पर पद ध्रुपद शैली को गुरमति संगीत की प्रधान शैली कहा जाता है। श्री गुरू ग्रंथ साहिब में दर्ज पदों में रहाउ की तुक जिसमें शब्द का केन्द्रीय भाव मौजूद होता है, इसको शब्द का केन्द्र मान कर ध्रुव की तरह बार-बार गायन करने की परंपरा है। शब्द की तुकों के अंत पर 2, 2, 3, 8 के रूप में दर्ज अंक जो अंतरे की सीमा का सूचक है। यह अंक शब्द रचना के अंतरा, संचारी, आभोग जैसे ध्रुपद नियमों के अनुसार कार्यशील रहते हैं।

होली वाणी धमार गायन के रूप में :-

भारतीय संगीत में प्रचलित धमार शैली का गायन धमार ताल में किया जाता है। धमार ताल से ही इस शैली का नाम धमार गायन शैली पड़ा। इसमें कृष्ण और राधा की होली लीला का वर्णन होने से इसको होली का गीत भी कहा जाता है। धमार ताल से ही इस शैली का नाम धमार गायन शैली पड़ा। इसमें कृष्ण और राधा की होली लीला का वर्णन होने से इसको होली का गीत भी कहा जाता है। धमार शैली के दो भाग स्थाई और अंतरा होते हैं। गुरमति संगीत में होली से संबंधित शब्द उदाहरण के तौर पर :-

होली कीनी संत सेवा।।
रंगु लागा अति लाल देव।।[4]
लाल रंगु तिस कउ लगा, जिसके बड भागा।।
मैला कदे न होवई नह लागी दागा।।?।।[5]
लालु गुलालु गहबरा सचा रंगु चड़ाउ।।
सचु मिलै संतोखीआ हरि जपि एकै भाई।।?।।[6]

आदि को धमार अंग से गायन किया जाता है। यह धमार शैली भारतीय शैली की धमार शैली से बिन्द्रावन (उत्तर प्रदेश) में प्रचलित धमार शैली के साथ ज्यादा समानता रखती है।

पड़ताल वाणी रूप पंचतालेश्वर गायन के रूप में :-

भारतीय संगीत के प्राचीन समय में 'पंचतालेश्वार' नामक गायन शैली प्रचार में थी।[7] जो समय के काल चक्र में आलोप हो गया। गुरमति संगीत परंपरा अंतर्गत श्री गुरू रामदास जी और श्री गुरू अर्जुन देव जी की वाणी के संचार के लिए 'पंचतालेश्वर' शैली का प्रयोग किया। श्री गुरू ग्रंथ साहिब में यह 'पड़ताल' नाम से दर्ज है। इसमें विभिन्न तालों के प्रयोग से पड़ताल शैली नाम पड़ा। पड़ताल शैली अधीन शब्द में संबंधित राग अधीन स्थाई की तुक का गायन किसी एक ताल में करने के बाद अंतरे की तुकों को भिन्न-भिन्न तालों में गायन किया जाता है। इसमें हर अंतरे का गायन करने के बाद स्थाई की तुक का गायन करने के लिए फिर स्थाई ताल में वापिस आया जाता है। पड़ताल शैली में विभिन्न तालों के प्रयोग होने के बावजूद राग एक ही रहता है।

गुरमति संगीत में प्रयुक्त संगीत के तत्वः-

1. स्थाई :- स्थाई भारतीय संगीत का एक विशेष तत्व हैं। गुरमति संगीत में इस तत्व के महत्त्व को स्वीकार किया गया है और इसको विशेष स्थान दिया गया है। वाणी के लिखित रूप को देखें तो रागात्मिक वाणी में जगह-जगह रहाउ का संकेत नजर आता है। रहाउ भारतीय संगीत में प्रचलित ध्रुव, पद अर्थात् अटल या अचल पद के तौर पर विद्यमान है। इसको स्थाई भी कहा जाता है। इस स्थाई के बार-बार गायन द्वारा ही संबंधित राग और कवि में अभिव्यक्ति भावों ने सौन्दर्य की सृजना है। वाणी में इसको रहाउ का विशेष संकेत देकर भारतीय

शास्त्रीय संगीत के इस विशिष्ट तत्व का सदुपयोग किया है। अपने शास्त्रीय महत्त्व के कारण ही यह तत्व गुरमति संगीत का विशेष अंग के तौर पर प्रमाणित किया जाता है।

2. अंतरा :- भारतीय शास्त्रीय संगीत में स्थाई के बाद अंतरा का स्थान है। गुरमति संगीत में अंतरा 1, 2, 3 संकेत के तौर पर अंकित है। भारतीय शास्त्रीय संगीत की तरह ही इन अंतरे की तुकों को, रहाउ की तुक में दर्ज भावों को सुलझाने के लिए प्रत्येक स्थाई की तुक के बाद गायन करने की परंपरा है।

3. यति :- यति का संबंध तबला बजाने की शैली से है। यति से भाव की निरंतर गति के ठहराव की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ। यति द्वारा किसी ताल को विभिन्न छंदों में परिणत किया जाता है।[8] इससे स्पष्ट है कि लय का संबंध केवल ताल से ही नहीं बल्कि काव्य/गायन शैली में प्रयोग होने वाले विश्राम से है। गुरमति संगीत में यति शब्द को जाति कहा गया है। गुरवाणी में श्री गुरू नानक देव जी द्वारा रचित वाणी अधीन राग बिलावल में एक सिरलेख अंकित है-'बिलावल महला 1 थिती धरु 10 जति'। जति (यति) की उक्त परिभाषा अनुसार इस सिरलेख से भाव है कि इस शब्द का दसवें घरु की लय और यति के विशिष्ट विश्रामों सहित राग बिलावल अधीन गायन करना है। भाई काहन सिंह नाभा अनुसार, संगीत की धारणा का नाम जति (यति) हैं और मृदंग के बोल का यहां विश्राम हो वह भी जाति की संज्ञा है।[9] डॉ0 चरन सिंह जी ने श्री गुरू ग्रंथ वाणी बिउरे में लिखा है, 'जति, गति, सपथ यह तीनों जोड़ी के करतब हैं, जिस वक्त दायां हाथ गति का काम करें अर्थात् गत वाकर उंगलियां में जोड़ी के किनारे और बीच काम करें और जब दोनों हाथों की उंगलियां हरफ निकालें और बायां हाथ साथ जैसे खुलासा बजाए तो उसको जति कहते हैं। जब दोनों हाथ खुले काम करें और आवाज भी निकले (जिसको कड़ कुट कहते हैं) तो इसकी संज्ञा साथ होती है।[10] इसमें पता लगता है कि गुरू साहिबान समय तबले के बंद बोलों का प्रचलन भी हो गया था पर जति संबंधी कोई ठोस आधार या हवाला नहीं मिलता। यह विषय खोज का मोहताज है।

4. ध्वनिः- श्री गुरू ग्रंथ साहिब में दर्ज कुछ वारों उपर मध्यकाल में प्रचलित ध्वनि के सिरलेख अंकित है। उदाहरण के तौर पर

वार माझ की तथा सलोक महला।
मलक मुरीद तथा चंद्रहड़ा सोहीआ की धुनी गावणी।।[11]
गउड़ी की वार महला।।
राए कमालदी मौजदी की वार की धुनि उपरि गावणी।।[12]
आसा महला 1 वार सलोका नाल सलोक भी महले पहिले के लिखे टुंडे असराजे दी धुनी।।[13]

उपरोक्त सिरलेखों से स्पष्ट है कि वार उपर जहां लोक संगीत अंग से ध्वनि का संकेत है वहां शास्त्रीय संगीत के तौर पर राग भी निर्धारित किए गए हैं। लोक वार की ध्वनि पर रागों का निर्धारण गुरमति संगीत, लोकसंगीत का मेल दर्शाता है। गुरवाणी में वार धुनि और राग की संयुक्त प्रस्तुति गुरवाणी की वारों की संचार प्रक्रिया के नवीनतम प्रबंध को उजागर करती है। उदाहरण के तौर पर आसा दी वार अपने संगीत स्वरूप समरसता की धारणी है। आसा दी वार और इसकी निर्धारित वार, धुनि और राग आसा में इस समरूपि और समसुरि सांझ सदका ही वार उपर धुनि का सिरलेख संभव हो सका है।[14] आसा दी वार के साथ राग अंकित है। यह शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से विशिष्ट राग साथ सुरात्मिक संबंध सिरजते हैं। इससे धुनि और संकेत में लुप्त गुरमति संगीत का शास्त्रीय संगीत के साथ संबंध प्रगट होता है। गुरवाणी अंतर्गत लोकवारों उपर शास्त्रीय संगीत के संकेतों द्वारा जहां विशिष्ट शास्त्रीय पहचान कराती है वहां यह गुरमति संगीत प्रबंध के अनुशासन की मिसाल है।

5. राग सिरलेख :- श्री गुरू ग्रंथ साहिब में दर्ज शब्दों के उपर राग, धरु, काव्य/गायन शैली आदि संकेत अंकित हैं जिनमें से राग का सबसे पहले आना इस बात का संकेत है कि संबंधित वाणी को निर्धारित रागों में गायन करना है। श्री गुरू ग्रंथ साहिब में शुद्ध राग (मुख्य राग) के सिरलेख सीधे रूप में ही अंकित है। जैसे सिरी, माझ, गउड़ी, गुजरी आसा आदि। मिश्रित राग (छायालग राग) के

सिरलेख विभिन्न रूपों में दर्ज है। उदाहरण के तौर पर सिरलेख गउड़ी भी सोरठि भी[15] जिस बारे में प्रो0 साहिब सिंह के अनुसार यह शब्द गउड़ी रागिनी में भी गायन करना है और सोरठि रागिनी में भी।[16] पर बहुमत इसमें है कि राग गउड़ी और सोरठि के संयुक्त रूप राग गउड़ी सोरठि से है। राग गउड़ी माझ महला 8'[17] का सिरलेख स्पष्ट है कि संबंधित शब्द का गायन राग गउड़ी माझ में करने का आदेश है। इसी राग का दूसरा सिरलेख 'गउड़ी महला 4 माझ है[18] भाव गउड़ी माझ के राग के मिश्रण से राग'गउड़ी माझ' की रचना हुई है। इनके अतिरिक्त श्री गुरू ग्रंथ साहिब में दर्ज बसंत महला 1 हिंडोल,[19] प्रभाती महला 8 विभास'[20] आदि राग मिश्रित राग के तौर पर अंकित है।

दक्षिणी पद्धति के राग :-

गुरमति संगीत के वाणी श्री गुरू नानक देव जी के समय तक भारतीय संगीत दो पद्धति (हिन्दुस्तानी या उत्तरी भारतीय संगीत और करनाटकी या दक्षिणी भारतीय संगीत) अधीन विभाजित हो गया था। श्री गुरू नानक देव जी ने उस परमात्मा के संदेश को सरब लोकाई तक पहुंचाने के लिए विश्व भ्रमण किया जो चार उदासी के नाम से जाना जाता है। श्री गुरू नानक देव जी इन उदासियों के दौरान दक्षिण भारत भी गए और उनकी संस्कृति और संगीत का अध्ययन किया। आप ने अपनी वाणी के गायन के लिए दक्षिणी भारतीय संगीत के रागों का प्रयोग किया। श्री गुरू ग्रंथ साहिब ने रागों के नाम साथ अंकित दक्षिणी शब्द, दक्षिणी पद्धति के राग होने का सूचक है और इनके नादात्मिक स्वरूप भी दक्षिणी पद्धति में ही मिलते हैं। यह दक्षिणी राग प्रकार मुख्य रागों के अधीन दर्ज है। गुरू नानक वाणी में प्रयुक्त दक्षिणी राग प्रकार गउड़ी दक्षिणी, वडहंस दक्षिणी, बिलावल दक्षिणी, रामकली दक्षिणी, प्रभाती दक्षिणी हैं।

सुधन्गः- सुधन्ग से भाव शुद्ध अंग या जिसमें सभी सुर शुद्ध लगते हैं। हिन्दुस्तानी संगीत में राग आसावरी के दो प्रकार प्रचार में है। एक स्वरूप में कोमल रिषभ लगता है और दूसरे स्वरूप में रिषभ शुद्ध प्रयोग किया जाता है। भारतीय संगीत में प्राचीन समय कोमल रिषभ की आसावरी प्रचलित थी, पर इसको कोमल रिषभ की आसावरी नाम से नहीं लिखा जाता पर शुद्ध अंग की आसावरी को आसावरी सुधन्ग का नाम दिया जाता था। गुरमति संगीत में आसावरी के दोनों रूपों का प्रयोग किया गया है। इसमें कोमल रिषभ की आसावरी को आसावरी और शुद्ध रिषभ की आसावरी के लिए आसावरी सुधंग शब्द का प्रयोग किया गया है।

ताल :- गुरमति संगीत में गायन हेतु अलग-अलग तालों के अनेक रूप प्रचार में रहे हैं। सर्वप्रथम यहां वर्णन योग्य है कि घरेलू संकेत को अभी विद्वानों ने ताल के लिए किया है। ताल से इसके गहरे संबंध का प्रमाण ईरानी ताल पद्धति में प्रचलित गाह परंपरा है जिसमें तालों को एक गाह, सिंह गाह-चहार गाह आदि नामों के साथ पुकारा जाता है।[21] गाह का अर्थ 'घरु' है, इसलिए संभव है कि गुरू साहिबान ने भी घरु को ताल दर्शाने के लिए प्रयोग किया हो। एक ओर मत अनुसार फारसी बहिर की बुनियाद पर हजरत अमीर खुसरों ने 17 ताल ईजाद किए जिनके नाम क्रमवार पश्तो, जोबहार, कवाली, सूलफाखता, जत, पर चमक, जलद, तिलाना, सवारी, आड़ा चौताल, झूमरा, जमानी सवारी, दास्तान, खमस, फरोदस्त, कैद, पहलवान हैं। यह ताल हिन्दुस्तानी तालों के समान रूप ही थे। जो फारसी नाम के साथ प्रचार में आए। यह भी कहा जाता है कि अमीर खुसरो ने हिन्दुस्तानी पुराने तालों का जवाब बिजी तालों में दिया था।[22] अमीर खुसरो द्वारा प्रचार में लाए गए इन तालों की गिनती 17 है। इसलिए हो सकता है कि वाणी के 17 घरु इन उपरोक्त तालों के ही रूप हों। कुछ भी हो ज्यादातर विद्वान घरु को ताल के रूप में स्वीकार करते हैं। अब क्यों जो घरु की यह परंपरा प्रचार में नहीं, इसलिए गुरमति संगीत में प्रयुक्त होनेवाले तालों को भारतीय संगीत में प्रचलित नामों के साथ ही पुकारा जाता है। गुरमति संगीत में प्रचलित ताल भारतीय संगीत में से ही सीधे रूप में प्रयोग हो रहे हैं। चाहे कुछ तालों के रूप और कुछ नए ताल भी प्रचार में है परंतु इन की वादन परंपरा और मूल विधि भारतीय परंपरा अनुसार ही है। उदाहरण के तौर पर आसा

दी वार दी चौकी में प्रयोग होने वाले तालों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है:-

आसा दी वार दी चौकी के आरंभ में वंदना के तौर पर शब्द का गायन करने के लिए ख्याल अंग से एकताल, तीनताल आदि या ध्रुपद शैली में चारताल, सूलफाखता, आदि तालों का प्रयोग किया जाता है। इस उपरान्त विभिन्न शैलियों के लिए विभिन्न तालों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के तौर पर पद गायन में चारताल, सूलफाखता आदि होली के शब्दों के लिए धमार ताल और पड़ताल शैली में प्रत्येक अंतरे के लिए भिन्न ताल प्रयोग होता है। इसलिए पड़ताल के गायन में कई ताल प्रयोग में आते हैं। जैसे श्री गुरू अर्जुन देव जी द्वारा राग सारंग में दर्ज पड़ताल करत केल बिखै मेल चंद्र सुर मोहे में स्थाई की तुक में एकताल, पहला, अंतरा-ताल धमार, दूसरा-आड़ा चौताल, तीसरा-रूताल रूपक और चौथे अंतरे का गायन तीनताल में किया जाता है। उपरोक्त शैलियों के अलावा आसा दी वार के गायन में पहले छंद का गायन एकताल में, फिर अनिबद्ध गान के तौर पर श्लोक का गायन करना उपरांत पउड़ी का गायन पउड़ी ताल (गे, तिट, ता, गेता) में करके चौकी की समाप्ति की जाती है।

गुरमति संगीत परंपरा हमें सिद्धान्तक रूप में श्री गुरू ग्रंथ साहिब की लिखित वाणी प्रबंध से प्राप्त होती है। इसके साथ ही गुरू इतिहास के हवाले व संकेत इस प्रबंध की विशेषता को दृढ़ करवाने में सहायक है। व्यावहारिक तौर पर प्रचलित गुरमति संगीत परंपरा ने इस प्रबंध के क्रियात्मक प्रयोग को साकार करने के लिए अनेक सिद्धांतों की सर्जना की हैं गुरमति संगीत प्रबंध और इस व्यावहारिक परंपरा से उपजे विभिन्न सिद्धांत और इन की समुच्च व्यावहारिकता को ध्यान से देखें तो हमारे सामने यह बात सहिजे ही स्पष्ट हो जाती है कि गुरू साहिबान गुरमति संगीत की विलक्षण परंपरा के तौर पर स्थापना हित प्रयोग होने वाली संगीतक इकाईयां तत्व और उपकरणों आदि का प्रयोग भारतीय संगीत में से ही कर रहे हैं। इस प्रबंध में भारतीय शास्त्रीय संगीत परंपरा का प्रयोग मौलिक पहुंच और विशिष्ट गुरमति संगीत अनुशासन के अंतर्गत भारतीय संगीत में प्रचलित शास्त्रीय गायन शैलियों के कलात्मक प्रयोजन को वाणी गायन के उद्देश्य हेतु प्रयोग करते हुए अध्यात्मिक प्रयोजन का धारणी बनाया गया है।

व्यावहारिक रूप में प्रचलित कीर्तन चौकी, कीर्तन शैली, राग, ताल आदि सभी मिलकर भारतीय शास्त्रीय संगीत परंपरा के सामान्तर गुरमति संगीत की परंपरा उजागर होती है। अंतर दोनों के प्रयोजन का है। दोनों के रास्ते और मंजिल अलग-अलग है। दोनों में कोई विरोध नहीं बल्कि आदान-प्रदान है। जिसकी मिसाल भारतीय संगीत की इकाईयां तत्व और उपकरणों का एक अपना अनुशासन है। गुरमति संगीत उस अनुशासन की मौलिकता का भी प्रचार कर रहे हैं और इन समूह शास्त्रीय संगीत के तत्वों और गुणों का सदुपयोग कर रहे हैं। यहां एक और बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि गुरमति संगीत में भारतीय शास्त्रीय संगीत के इन तत्वों के मूल गुण, पहचान और अनुशासन को स्वीकार करते हुए इनको गुरमति संगीत का अनुसारी बनाया गया है। शास्त्रीय संगीत के इन तत्वों को नकारा नहीं बल्कि श्रृंगारा और स्वीकार किया है। उदाहरण के तौर पर गुरमति संगीत के राग और गायन शैलियों के संदर्भ में यह बात स्पष्ट हो जाती है। गुरू साहिबान अलग-अलग भारतीय रागों को उनके मूल नामों, स्वरूपों का गुण सहित प्रयोग कर रहे हैं पर यह भारतीय संगीत की तरह राग की प्रधानता और राग के प्रयोग को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए राग को आध्यात्मिक उद्देश्य के प्रयोजन सहित अनुशासित कर देते हैं। यहां यह नहीं कि गुरू साहिबान राग के मूल गुण और उसकी भारतीय व्याख्या को बिल्कुल ही नकारते हैं बल्कि गुरू साहिबान अपनी मौलिक छोह द्वारा इस राग परंपरा को नई दिशा भी प्रदान करते हैं। राग वर्गीकरण की उपरोक्त चर्चा लोक संगीत परंपरा में नहीं मिलती। जब गुरमति संगीत के कसबी गायक किसी वार या विशेष रूप में आसा दी वार दी चौकी का गायन करते हैं तो गायन अपने मौलिक गुणों से अलग सांगीतिक रूप से किसी शास्त्रीय संगीत की परंपरा से कम नहीं लगता। इस परंपरा का निश्चित आधारित और विशिष्ट गायन प्रबंध

गुरमति संगीत को नवीनतम और विलक्षण परंपरा के तौर पर उजागर करता है।

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि गुरमति संगीत परंपरा में भारतीय शास्त्रीय संगीत परंपरा के विभिन्न तत्व मौलिक विधि द्वारा प्रयोग हो रहे हैं। गुरमति संगीत के इन शास्त्रीय तत्वों को नवीन मौलिक पहुंच से स्वीकार और श्रृंगारा गया है जो समुच्च भारतीय संगीत के लिए गर्व की बात है और गुरमति संगीत द्वारा नवीन विधि मौलिक पहुंच से यह प्रयोग शास्त्र की दृष्टि से भारतीय संगीत के लिए नवीनतम और महान योगदान है।

संदर्भ :-

1. आसा महला ...., आदि ग्रंथ, पन्ना 6
2. रामकली महला ...., आदि ग्रंथ, पन्ना 917
3. सलोक महला ...., आदि ग्रंथ, पन्ना 1285
4. बसंत महला ...., आदि ग्रंथ, पन्ना 1180
5. बिलावल महला ...., आदि ग्रंथ, पन्ना 808-9
6. सिरी राग महला ...., आदि ग्रंथ, पन्ना 18
7. श्री मानवली रामकृष्ण कवि, भरतकोश, पन्ना 344
8. बंधोपाध्याय, श्री पद, संगीत भाष्य, पन्ना 287
9. महला ...., आदि ग्रंथ, पन्ना 838
10. महान कोष, पन्ना 441
11. आदि ग्रंथ, पन्ना 137
12. आदि ग्रंथ, पन्ना 318
13. आदि ग्रंथ, पन्ना 462
14. चौधरी, विमलाकांत राय, भारतीय संगीत कोश, पन्ना 95
15. आदि ग्रंथ, पन्ना 330
16. साहिब सिंह (प्रो0) श्री गुरू ग्रंथ साहिब दर्पण (पोथी दूसरी), पन्ना 90
17. आदि ग्रंथ, पन्ना 172
18. साहिब सिंह (प्रो0) श्री गुरू ग्रंथ साहिब दर्पण (पोथी दूसरी), पन्ना 217
19. आदि ग्रंथ, पन्ना 1171
20. आदि ग्रंथ, पन्ना 1335
21. शब्दारथ श्री गुरू ग्रंथ साहिब दर्पण (पोथी पहली) पन्ना 14
22. निबंध संगीत, पन्ना 557-58

पर्यटन के संदर्भ में भारतीय संगीत परम्परा

डॉ. रोजी श्रीवास्तव

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में पर्यटन एवं संगीत कला का एक स्वर्णिम अतीत रहा है। यद्यपि पर्यटन एवं संगीत दो भिन्न-भिन्न दिशाएं हैं, क्षेत्र हैं। वर्तमान में वैश्वीकरण के इस युग में दोनों ही बहुत महत्त्वपूर्ण दौर से रू-ब-रू भी है। दोनों में से किसी एक की महत्ता को कम करके नहीं आंका जा सकता। वर्तमान संदर्भ में यदि हम दोनों की बात करते हैं तो जरूरी है कि संक्षेप में इनके अतीत पर एक दृष्टि डाली जाए। हमारी भारतीय संस्कृति जो "अतिथि देवोः भवः" जैसी अवधारणा की पोषक रही है। वहीं संगीत की परंपरा भी "अहं ब्रह्मास्मि" एवं "शिवोहम् सहोदर" की भावना को अपने में समेटे हुए हैं। भारत के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक विहंगम दृष्टि डाले तो इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब यहां दूसरी सभ्यता एवं संस्कृति ने अपना डेरा डाला है तब-तब परस्पर विचारों का आदान-प्रदान हुआ है और यह परंपराएं आपस में इतनी घुल मिल गई कि एक नई शैली या कहें कि नई सभ्यता एवं संस्कृति ने जन्म लिया है चाहे वह पुर्तगाली हो या मुस्लिम या फिर अंग्रेजी की। यह बात अलग है कि इन सभी का भारत आने का उद्देश्य केवल अपना आधिपत्य जमाना था किन्तु स्वतंत्र भारत के संदर्भ में यदि हम पर्यटन एवं संगीत जैसे विषयों की, उसकी उपयोगिता की बात करते हैं तो दोनों के बारे में अलग-अलग जानना आवश्यक है।

आदिकाल से मनुष्य की घुमक्कड़ प्रवृति रही है। आखेट, आवास मनोरंजन एवं अन्य जरूरतों को पूरा करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करने की प्रवृति रही है और कालांतर में यही प्रवृति पर्यटन के रूप में विकसित हुई। एतरेय ब्राह्मण में कहा गया कि "चरन् वै मधु विन्दति" चलने से मधु अर्थात् आनन्द मिलता है। डॉ. आर्थर एंथनी[2] के अनुसार "किसी स्थान पर जाना, प्रस्थिति, यात्रा, चढ़ाई, तीर्थयात्रा, सैर आदि पर्यटन है।" पर्यटन के शाब्दिक अर्थ[3] की चर्चा करे तो पायेंगे कि अंग्रेजी शब्द TOURISM अर्थात् पर्यटन का संबंध TOUR से है जो लेटिन भाषा का है यह TORNOS यानि यात्रा चक्र या PACKAGE TOUR के विचार से सृजित हुआ है। जो आधुनिक पर्यटन का मुख्य आधार भी है। TOUR एक हिब्रू HEBRAW शब्द TORAH से लिया है यानि किसी स्थान पर जाकर खोज या अध्ययन करें, जो जिज्ञासा है उसका ज्ञान प्राप्त करें। एरिक लांस[4] का कहना है कि "पर्यटन परस्पर सूझ-बूझ और सांस्कृतिक आदान-प्रदान की महत्त्वपूर्ण क्रिया है।" डॉ. जे. मिडिड्यम[5] के मतानुसार "पर्यटन एक सामाजिक आंदोलन है जिसमें आराम, विनोद, क्रीड़ा एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।" संगीत पक्ष की जब हम बात करते हैं तो हमारे ऋषियों, मनीषियों की ऐसी मान्यता रही है कि सृष्टि के गर्भ में ही संगीत का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारंभ से ही संगीत सृष्टि की प्रत्येक सजीव गतिविधियों में व्याप्त रहा। हमारी भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परंपरा के परिचयात्मक बोध के लिए संगीत खुली किताब के रूप में सामने आया। विभिन्न काल में समय के थपेड़ों में से होकर अपने सफर के

व्याख्याता, संगीत विभाग, राजकीय महारानी सुदर्शन महाविद्यालय बीकानेर

अनेक उतार-चढ़ाव का यह साक्षी रहा है किन्तु आज भी भारतीय संगीत में एक विशिष्टता विद्यमान है तथा एक अत्यंत सुदृढ़, समृद्ध एवं गौरवशाली परंपरा को अपने में संजोये रखा है। हमारी वैदिक परंपरा में भी "पुरूषार्थ चतुष्टय" अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति हेतु संगीत के अस्तित्व को स्वीकारा है। देखा जाए तो ललित कलाओं में प्रत्येक कला का कुछ ना कुछ प्रयोजन अवश्य रहा है। कला जीवन के लिए, सेवा के लिए, आत्मानुभूति के लिए, आनंद विनोद के लिए अथवा अर्थ प्राप्ति के लिए हो सकती है। इन कलाओं में मुख्यतः संगीत अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम भी है तथा समाज का दर्पण भी है। तभी बदलते परिवेश के साथ-साथ संगीत के प्रयोजन में भी बदलाव आया। जहां वैदिक काल में धर्म और मोक्ष को मुख्य माना जाता था वहीं वर्तमान में अर्थोपार्जन की प्रधानता रही।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में पर्यटन के निरंतर होते विकास ने अब विशाल रूप ले लिया है तथा जन उद्योग के रूप में सामने आया है। आज पर्यटन का अर्थ केवल सैर-सपाटा ही नहीं है बल्कि अनेकों रोजगार की संभावनाएं जुड़ी है। इसके अतिरिक्त संस्कृति से जुड़ी अनेकों ऐसी गतिविधियां हैं जो विदेशी मुद्रा-अर्जन, मनोरंजन, पारस्परिक एकता सद्भावना, स्वास्थ्य, शिक्षा, पर्यावरण जैसी विभिन्न कड़ियों को आपस में गुंथे हुए है, एक सूत्र में पिरोये हुए हैं। समग्र रूप से कहा जाए तो पर्यटन ऐसी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनैतिक क्रिया है जो "ग्लोबलाइजेशन" के इस दौर की मांग है, आवश्यकता है। क्योंकि वैश्वीकरण के इस दौर में विश्व निरंतर एक छोटे गांव या शहर में परिवर्तित होता जा रहा है। इंटरनेट और मोबाइल के इस दौर में पलक झपकते ही दूरियां कम होती जा रही है। वर्तमान में संगीत को पर्यटन के संदर्भ में देखा जाना बेहद प्रासंगिक तथा उपयोगी भी है। जेरास्ना माद्रंथ[6] के अनुसार "पर्यटन एक ऐसा उद्योग है जिसमें कारखाना नहीं लगाना पड़ता। इस उद्योग में ना धुंआ होता है ना खड़बड़ और उपर से पैसा भी विदेशी मुद्रा के रूप में।" पर्यटन आर्थिक विकास की कुंजी है राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण आर्थिक क्रिया है। लींग ऑफ नेशन, टूरिज्म सोसायटी ऑफ ब्रिटेन, विश्व पर्यटन संगठन, विश्व यात्रा एवं पर्यटन परिषद् (WTTC) अनेक ऐसी संस्थाएं हैं जो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इस दिशा में कार्यरत है। भारत में भी पर्यटन विभाग भारत सरकार (DOT) मानव संसाधन मंत्रालय, आर्ट कल्चर, लिट्रेचर एवं टूरिज्म, ल्क्ब्ए जैसे संगठन पर्यटन उद्योग के विकास में सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

निःसंदेह हम कह सकते हैं कि पर्यटन के क्षेत्र में संगीत के प्रयोजन की सीमाएं अनन्त है। विकास के इस आयाम में, संगीत कला की परिधि को विस्तृत करने में पर्यटन ने अपूर्व सहयोग भी दिया है। "वसुधैवः कुटुम्बकम्" जो भारतीय संस्कृति की विशिष्टता रही है संगीत एक सीमा तक इस विचारधारा को सार्थक करने में सक्षम भी रहा है क्योंकि संगीत मानव मन की, आत्मा की भाषा है। वह देशकाल, भाषा शब्द की परिधि से परे है। संगीत को अपनी मुट्ठी में समेटना हवा को बांधने जैसा है। आज भारत सरकार प्रान्तीय, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्यटन, पर्यटक एवं पर्यटन स्थलों को बढ़ावा दे रही है इसका मुख्य लक्ष्य सांस्कृतिक परंपरा को तो सुदृढ़ करना है ही किन्तु साथ-साथ पर्यटन उद्योग की जड़ों को मजबूत करना भी। विभिन्न राज्यों के प्राचीन स्मारक, महल, मंदिर, ऐतिहासिक स्थल, उत्पादन, खान-पान, वस्त्र आदि के साथ-साथ वहां की सांगीतिक परंपरा विशेष महत्त्व रखती है। भारतीय शास्त्रीय संगीत की तीनों विधाओं यथा-गायन, वादन, नर्तन के साथ स्थानीय लोक संगीत की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। इन लोकसंगीत की शैलियों की मैं यहां संक्षेप में चर्चा करना चाहूंगी क्योंकि मेरा ऐसा सोचना है कि हमारे लोक संगीत के बिना यह पूरा आलेख अधूरा सा है या इनको नजर अंदाज करना बेमानी सा है जैसे राजस्थान का मांड़, घूमर, नींबूड़ा, पणिहारी, मूमल, भवई, चिरमी, मेवाड़ का कठपुतली, बीकानेरी रम्मत्, गुजरात का डांडिया, गरबा, दीपक नृत्य, रास, हरियाणा का घोड़ी नाच, धमाल, डंडा नाच, पंजाब का गिद्दा, भंगड़ा, मध्यप्रदेश का पंडवानी, महाराष्ट्र का लावनी, दीपक दसावतार, ढोलना, पश्चिम बंगाल का बाउल,

खेमटा, कीर्तन, बिहार का फाग, झींका, चैत्या, उत्तर प्रदेश का होरी, चैती, कजरी, रासलीला, नौटंकी आदि की एक लंबी श्रृंखला जो स्थानीय परिवेश के अनुसार ही विकसित हुई और सुदृढ़ हुई है। पर्यटक यदि भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाते हैं तो वहां के भिन्न-भिन्न रंग तमाशे, गीत संगीत सुनने एवं देखने को मिलते हैं। हमारे कलाकारों द्वारा कला प्रस्तुति को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। कलाकार उन रोमांचित पलों को यादगार बनाकर पर्यटकों के मानस पटल पर अपनी अमिट छाप छोड़ता है। वर्तमान में लोकगीतों एवं नृत्यों पर फ्यूजन, रिमिक्स जैसे प्रयोग किये जा रहे हैं। जिसमें भारतीयता के साथ-साथ पाश्चात्य संगीत की भी छाया नजर आती है। कहने का तात्पर्य है कि हमारे संगीत में परंपरावाद के साथ-साथ प्रयोगवाद की भी स्पष्ट झलक दिखाई देती है जो किसी भी कला को चिरस्थाई बनाने में पूर्णतः सक्षम है। युगों-युगों तक इसकी गवाही हमारी भारतीय संस्कृति देगी क्योंकि किसी सभ्यता एवम् संस्कृति के दो विकल्प होते हैं पहला किसी में समा जाना या फिर दूसरा किसी को अपने में समाहित कर लेना। इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमारी सभ्यता एवं संस्कृति दूसरे विकल्प की हिमायती रही है। विशेषतः जब हम पर्यटन एवं सांगीतिक परंपराओं की बात करते हैं तो हमारी संस्कृति ही इस मार्ग में हमारा दीपक है, पाथेय है और है हमारा ध्रुव ध्येय।

संदर्भ ग्रंथ :-

1. व्यास डॉ. राजेश कुमार, पर्यटन उद्भव एवं विकास
2. मित्तल अंजलि, भारतीय सभ्यता संस्कृति एवं संगीत
3. शर्मा डॉ. उमाशंकर, संगीत का योगदान मानव जीवन के विकास में।
4. परांजपे डॉ. शरतचन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास
5. तिवारी हरीश कुमार, मंच प्रदर्शन में कलाकार एवं श्रोता।

नवीन वाद्य वर्गीकरण की संभावनाए

डॉ. अतुल कुमार गुप्ता

भारतीय संगीत के इतिहास के अनुसार नाद के दो भेद प्राचीन काल से ही बताए जाते है।

1. अनाहत जो स्वयं भू रूप से उत्पन्न होता है जिसे हम केवल अनुभव कर सकते है। जिसे ऋषि-मुनियों ने केवल यौगिक क्रियाओं हेतु मान्य किया है। क्योंकि यह मुक्ति दायक है, शक्ति दायक नहीं।

2. आहत नाद जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है यह किन्हीं दो वस्तुओं को आपस में टकराने या घर्षण करने से उत्पन्न होता है। आहत नाद अनाहत नाद की भांति स्वयं भू नहीं होता यह शक्ति दायक अर्थात् रंजक होता है। संगीत पारिजात के अनुसार आहत नाद वह है, जो वाद्य यंत्रों पर आघात करने पर प्रकट होता है और इससे ही संगीत के स्वरों की उत्पत्ति होती है।।

वाद्य शब्द संस्कृत भाषा का संज्ञा शब्द हैं, जो शब्दानुशासन के अनुसार नपुंसक लिंग है और मूलरूप में वाद्यम लिखा पढ़ा या बोला जाता है। (1) वादित्र और (2) अतोद्य जो बोले या स्पष्ट उच्चारण करें वह वाद्य तथा जिसे किसी उपकरण के द्वारा ताड़ित किया जाये या पीटा जाये एवं आघात किया जायें वह 'आतोद्य' कहलाता है।

वाद्य शब्द का शाब्दिक अर्थ है- वादनीय या बजाने योग्य। यदि हम ध्यानपूर्वक सुने तो वाद्य में हमें स्वरों और उनमें बंधे शब्दों का स्पष्ट उच्चारण सुनाई देता है। दूसरे शब्दों में जब हम किसी वाद्य को बजाते है तो उससे उत्पन्न 'ध्वनि' स्वर या शब्द हमें उस काल खण्ड का आभास या अनुभूति कराते है, जिसका प्रयोग हमारे गायन या नृत्य में किया गया है।

प्राचीनकाल में संगीत के अंतर्गत पंच वाद्यानि अर्थात् नख़ज, लोहज, चर्मज, वाद्य मनुष्य द्वारा निर्मित एवं शारीरज ईश्वर द्वारा निर्मित है। प्राचीन युग में प्रचलित वाद्यों का महर्षि भरत ने जो वर्गीकरण किया है, उसमें चार प्रकार के आतोद्य माने हैं तत्, अवनद्ध घन, सुषिर, नारद ने केवल तीन प्रकार के ही वाद्य माना है- तत् अवनद्ध एवं सुषिर उन्होंने घन वादयों को अवनद्ध के अंतर्गत ही रखा है। वाल्मीकि रामायण में इन चारों प्रकार के वाद्यों को तूर्य संज्ञा दी है।

यह चारों प्रकार के वाद्य वैदिक काल, प्राचीन एवं पूर्व मध्य काल तक इसी नाम से प्रचलित रहें। उत्तर मध्य काल में अवनद्ध वाद्यों को वितत् की संज्ञा दी जाने लगी थी। तानसेन के ध्रुपदों में भी वितत् को अवनद्ध वाद्य मानना सिद्ध होता है। किन्तु आधुनिक काल आते-आते तक विद्धानों में मतभेद होने लगे। आधुनिक विद्वानों के अनुसार चर्म वाद्यों के लिए अवनद्ध शब्द पूर्व प्रचलित है तो वितत् शब्द की आवश्यकता ही नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक विद्वानों द्वारा एक और मत प्रकट किया गया जिसके अनुसार वाद्य वर्गीकरण तत्, वितत् अवनद्ध, घन, सुषिर इन पाँचों नामों से वर्गीकृत किया गया। जहाँ वितत् शब्द से तात्पर्य गज द्वारा बजाए जाने वाले वाद्यों को बताया गया है। जबकि पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा वितत् को अवनद्ध वाद्य माना गया है।

आधुनिक विद्वानों का मानना है, कि वितत् शब्द का.अर्थ झुका हुआ अथवा खिंचा हुआ भी होता है, जो कि गज माना जा सकता है। अतः वितत् वाद्यों

एम.ए.पी.एच.डी. के.आर.जी. कॉलेज ग्वालियर

के अंतर्गत गज से बजाए जाने वाले वाद्य होना चाहिए। वितत् वाद्यों को गज वाद्य मानना पाश्चात्य भी हो सकता है। पाश्चात्य मत के अनुसार तत् वाद्य के अंतर्गत मिजराब, कोण आदि से बजाएँ जाने वाले वाद्य जैसे वीणा, सुरबहार, सितार, सुर शृंगार, सरोद, रबाब, गिटार, मैन्डोलिन आदि वाद्य आते है। वितत् वाद्य के अंतर्गत गज या कमानी आदि द्वारा तार को रगड़कर बजाएं जाने वाले वाद्य जैसे सारंगी, इसराज, दिलरूबा ताउस, चिकारा, सारिन्द्रा, बाहुलिन, बायोलीन, बायोला, चैलो इत्यादि वाद्य आते है। मध्य कालीन एवं आधुनिक विद्वानों का मतभेद केवल तंत्री वाद्यों में ही है। अवनद्ध घन एवं सुषिर वाद्यों में कोई मतभेद नहीं है।

संगीत एक परिवर्तनशील कला है, चूंकि संगीत सजीव कला है, इसीलिए इसमें परिवर्तन सर्वप्रथम होता है, कोई भी कलाकार मंच पर अपनी प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ नवीन प्रयोगों द्वारा इस परिवर्तन में भागीदार होता है, एवं अपनी सुविधा अनुसार वाद्यों के बनावट में नवीन परिवर्तन करता है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत का आधार जनमानस में प्रचलित लोक संगीत है। जिसे इतिहासकारों ने प्राचीन काल में देशी संज्ञा प्रदान की है।

अतः लोक संगीत के वाद्यों को भी भारतीय वाद्य वर्गीकरण में होना चाहिए।

श्री वी. चैतन्य देव के अनुसार वर्तमान में भारत में बनाए चार बड़े वर्ग स्वीकृत है, फिर भी परिभाषित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक विस्तृत और गहरे वर्गीकरण की आवश्यकता है। नवीनतम प्रयासों के अनुसार घन वाद्य के सोलह, अवनद्ध के ग्यारह और सुषिर के बारह और तत् के पन्द्रह भेद उपलब्ध है जो कि विशेषकर लोक संगीत में प्रयुक्त होते है। लोक (क्षेत्रीय) संगीत में कई ऐसे वाद्य भी प्रचलित हैं, जिसमें तत् और अवनद्ध दोनों की ध्वनि का आभास होता है। कुछ ऐसे वाद्य हैं जो हारमोनियम की भाँति बजाया जाता है। साथ ही लय (ताल) दर्शाने के लिए अन्य वाद्य का मिश्रण होता है, जिसे एक ही वादक बजाता है अर्थात् सुषिर एवं अवनद्ध वाद्य का मिश्रण।

इसी प्रकार तंत्री वाद्य में मुख्य तंत्री के मध्य एक मनका लगाकर भी एक वाद्य निर्मित हुआ है जो स्वर वाद्य एवं ताल वाद्य दोनों का कार्य करता है। यह वाद्य महाराष्ट्र में अत्यधिक प्रचलित है। महाराष्ट्र के लोग इसे संगीत में हवंग तथा अन्य कई राज्यों में इसे तुनतुना भी कहते हैं। राजस्थान के लोक संगीत में बजने वाला वाद्य सारंगी के समान वाद्य जिसे रावण हत्था भी कहते हैं। इसके गज में घुंघरूओं के द्वारा ताल या लय की गति को दर्शाता है। यह तंत्री एवं घन वाद्य का मिश्रण है ऐसे कई वाद्य है, जो लोक संगीत में प्रचलित हैं, जिन्हें नवीन वाद्य वर्गीकरण में मिश्रित वाद्यों के नाम से सम्मिलित करना उचित होगा।

वर्तमान युग विद्युतीकरण का युग है, यही कारण है कि तत्, वितत्, अवनद्ध, घन, सुषिर सभी प्रकार के वाद्यों की ध्वनियाँ इलेक्ट्रोनिक तानपूरा, स्वरमण्डल, स्वर पेटी, तबला आदि। सिन्थेसाइजर तो ऐसा वाद्य है, जो पाश्चात्य संगीत से भारतीय संगीत में आया है, जिसमें सौ से अधिक सभी प्रकार के वाद्यों की ध्वनि हारमोनियम के समान वादन कर उत्पन्न की जाती है।

विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में तो इन सभी इलेक्ट्रोनिक वाद्यों का अत्यधिक प्रयोग किया जा रहा है। साथ ही वर्तमान में बड़े-बड़े मंचीय कलाकार भी इन इलेक्ट्रोनिक वाद्यों का प्रयोग रूचि से करते हैं। नवीन इलेक्ट्रोनिक वाद्यों में इलेक्ट्रोनिक वीणा निर्मित हुई है, जो रैडल कम्पनी ने गत वर्ष ही विकसित की है। अतः नवीन वाद्य वर्गीकरण की संभावना के अंतर्गत वर्तमान में तत्, वितत्, अवनद्ध, घन, सुषिर मिश्रित एवं इलेक्ट्रोनिक वाद्य इन सभी को सम्मिलित करना ही चाहिए। इक्कीसवीं शताब्दी की यही मांग है, इसलिए समस्त संगीत विद्वजनों को इस पर विचार करना उचित होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ :-

1. मिश्र डॉ. लालमणि, भारतीय संगीत वाद्य
2. मिश्रा डॉ. अरूण, भारतीय कण्ठ एवं वाद्य संगीत
3. देव डॉ. वी. चैतन्य, वाद्य यंत्र
4. परांजपे डॉ. शरतचन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास
5. सिंह डॉ. ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास
6. डॉ. बसंत, संगीत विशारद
7. महाडिक डॉ. प्रकाश, भारतीय संगीत के तंत्री वाद्य

ठुमरी के बादशाह नवाब वाजिद अली शाह

इंदिरा सिंह

वह ठुमरी ही तो है जो 'नवाब वाजिद अली शाह' की याद दिलाती है।

'ठुमरी' एक ऐसी गायन शैली है जो गायक वादक एवं श्रोताओं को आत्मविभोर कर देती है और उनके मनमंदिर में निवास करने लगती है। ठुमरी के अंतर्निहित तात्पर्य को भाषा के द्वारा प्रकट करना मुश्किल ही नहीं बल्कि नामुमकिन है, इसे श्रवण करके ही इसके महत्त्वपूर्ण बारीकियों को आत्मसात् किया जा सकता है।

'ठुमरी' उपशास्त्रीय गायन होने के बावजूद उत्तर भारतीय संगीत में इसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ठुमरी मात्र गायन ही नहीं बल्कि वादन शैली के रूप में बहुत प्रचलित है।

'ठुमरी' को हम इस प्रकार पारिभाषित कर सकते हैं- ठुमक-ठुमक कर चलने वाली, ताल के विभिन्न छन्दों में लचक कर चलने वाली तथा बोल बहलाव करके गायी जानेवाली गायन शैली।

ठुमरी के प्रवर्तक 'नवाब वाजिद अली शाह' और 'ठुमरी' दोनों में एक अटूट रिश्ता थी। मानों एक दूसरे के लिए बना हो। यह अनुमान लगाना मुश्किल हो उठता है, ठुमरी का सौन्दर्य नवाब ने बढ़ाया था या ठुमरी नवाब साहब का सौन्दर्य इतना जरूर कहा जा सकता है कि नवाब साहब इतिहास के पृष्ठ पर ठुमरी के बादशाह के रूप प्रतीत हुए हैं।

नवाब वाजिद अली शाह के राज्यकाल में संगीत का आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ अर्थात् संगीत की काफी उन्नति हुई। नवाब वाजिद अली शाह लखनऊ के उन नवाबों में एक ऐसे नवाब थे जो अनेक कलाओं के ज्ञाता थे और वे अत्यंत कलाप्रेमी भी थे। नवाब साहब के समय में लखनऊ के लोगों में ठुमरी के प्रति रूचि बढ़ी और लखनऊ ठुमरी के लिए विख्यात हो गया। फलस्वरूप दूर देश से लोग ठुमरी विशेषज्ञों से ठुमरी सीखने लगे। नवाब साहब स्वयं ठुमरी की रचना कर गाते भी थे और ठुमरी की शिक्षा प्रदान करते थे। परिवर्तनशील समाज में नवाब वाजिद अली शाह के राज्यकाल में संगीत की बड़ी उन्नति हुई और नवाब साहब के आश्रय से संगीत को एक नई दिशा मिली। नवाब साहब का उपनाम 'अख्तर पिया' था, इसी नाम से उन्होंने ठुमरी की रचना करते थे। श्रृंगारिकता, विलासिता और नृत्य-नाट्य के लिए इतिहास में इन्होंने एक महत्त्वपूर्ण स्थान कायम किया है।

1. नवाब वाजिद अली शाह के काल से पूर्व ही ठुमरी अपना साम्राज्य स्थापित करने लगी थी। नवाब वाजिद अली शाह एक प्रतिभा संपन्न शासक थे। साहित्य, संगीत एवं अन्य कलाओं में इनकी विशेष रूचि थी। उनकी राजधानी लखनऊ में प्रत्येक कला के मर्मज्ञ विशेषतः उच्च कोटि के संगीतज्ञ विद्यमान थे।

2. ख्याल शैली के महान गायक पहले लखनऊ में ही आश्रित थे, परंतु धीरे-धीरे नवाबों की विलासितापूर्ण वातावरण में एक नई शैली को विकसित होने में संबल मिला। नजाकत, नफासत, नाज-नखरे, अदब-आदब मेहमानवाजी के लिए लखनऊ प्रसिद्ध है। यही वातावरण ठुमरी गायकी के चर्मोत्कर्ष की यात्रा में अत्यंत लाभकारी हुआ। ठुमरी के साथ नृत्य में भी यहां भरपूर विकास हुआ।

शिक्षिका, डॉ0 अनिरूद्ध कला संगीत विद्यालय, कटिहार

3. नवाब वाजिद अली शाह अनेक विधाओं के मर्मज्ञ एवं विशेषज्ञ भी थे। अतः जिस तरह ध्रुवपद गायन शैली का आविष्कार श्रीमान् सिंह तोमर ने किया और इसे आश्रय दिया अकबर के दरबार ने, तथा ख्याल का अविष्कार किया सुल्तान हुसैन शर्की ने और इस शैली को आश्रय दिया मोहम्मद शाह रंगीले ने, संभवतः यही कारण है कि शास्त्रीय संगीत के बंदिशों में मोहम्मद शाह रंगीले का नाम प्रायः आता है। ठीक उसी तरह ठुमरी का आविष्कार लखनऊ के नवाबों के दरबार में गुलामनवी शोरी के घराने के लोग हुआ माना जाता है और नवाब वाजिद अली शाह इस शैली को आश्रय ही नहीं दिया बल्कि गगनचुम्बी प्रतिष्ठा भी दिलाई।

इसलिए आज भी ठुमरी शब्द के साथ-साथ नवाब वाजिद अली शाह का नाम संगीत प्रेमियों के मानसपटल पर उभर आता है।

नवाब साहब केवल ठुमरी ही नहीं, नृत्य-नाट्य को भी आगे बढ़ाया है। नृत्य में इन्हें दक्षता हासिल थी। नृत्य-नाट्य के लिए ही उत्तर प्रदेश लखनऊ के कैशरबाग में नवाब साहब ने एक विशाल भवन, रंगमंच के लिए बनवाए थे। संगीत, नृत्य के प्रति इनका लगाव जन्म से ही था। नृत्य-नाट्य में नवाब खुद कृष्ण और वेग़में गोपियां बना करती थी और नृत्य-नाट्य रात भर मंचस्थ होता रहता था।

3. नवाब ने संगीत के विभिन्न प्रयोगों के लिए एक परीखाना नामक मंडली बनवाई थी। जिसमें कई गायिकाएँ एवं नर्तकियाँ थी। इन गायिकाओं और नर्तकियों को संगीत शिक्षा के लिए कई संगीतज्ञ, नर्तक नियुक्त थे।

नवाब साहब ने नृत्य की शिक्षा दुर्गा प्रसाद जी से ग्रहण की। नृत्य में इन्हें दक्षता प्राप्त थी तथा नृत्य पर इनका पूर्ण आधिपत्य था। नवाब साहब एक उत्तम गायक तो थे ही, वादन कला में भी निपुण थे, तालज्ञ थे। इन्होंने अपना संपूर्ण जीवन संगीत, नृत्य और नाट्य के लिए समर्पण कर दिया था। नवाब साहब एक उत्तम रचनाकार भी थे, इन्होंने बहुत सारी ठुमरियों की रचना भी की है। इनकी ठुमरियाँ लखनऊ के क्षेत्रीय भाषाओं में है। अर्थात् नवाब वाजिद अली शाह एक उत्तम गायक, वादक, नर्तक तथा रचनाकार भी थे। इन्हें एक कुशल संगीतज्ञ के रूप में इतिहास के पृष्ठ पर अंकित किया गया है। नवाब साहब ने अपने समय में ठुमरी को एक मुकाम दिया और उस उंचाई तक पहुंचाया जिसके कारण लखनऊ ठुमरी का गढ़ हो गया। विभिन्न देशों से लोग ठुमरी शिक्षा प्राप्त हेतु लखनऊ आने लगे। लखनऊ से ठुमरी की शिक्षा प्राप्त करना गौरव की बात हो गयी।

श्रृंगारिकता, विलासिता और श्रुति मधुर होने के कारण नारी कंठों द्वारा ही ठुमरी गवाई जाती थी, यानी स्त्रियाँ ही ठुमरी गाया करती थी। लेकिन यह भ्रांतिपूर्ण बात है कि केवल स्त्रियाँ ही ठुमरी गाती थी, क्योंकि नवाब वाजिद अली शाह भी एक प्रसिद्ध ठुमरी गायक और नर्तक भी थे। नवाब में 'अख्तर पिया' के नाम से ठुमरियों की रचना करते थे और गाते भी थे।

4. सादिक अली, कदर पिया, चाँद पिया, भईया गणपत राव, महाराज कालका विन्दादीन, ठाकुर प्रसाद, दुर्गा प्रसाद, हैदर खाँ आदि उस युग के महान गायक थे।

संगीत, नृत्य-नाट्य, श्रृंगारिकता और विलासिता के लिए इतिहास में नवाब वाजिद अली शाह का एक अलग स्थान है। नवाब साहब अनेक कलाओं के ज्ञाता थे। इन्होंने अपने जीवन में तन, मन धन से संगीत का प्रचार-प्रसार किया और संगीत में इनके समय में चतुर्मुखी विकास भी हुआ।

नवाब साहब ने संगीत के अलावे नृत्य-नाट्य को भी आगे बढ़ाने के लिए लखनऊ के कैसरबाग में नाट्यशाला के लिए एक विशाल भवन का निर्माण करवाया था। कहा जाता है कि उसमें 360 नाट्यशालाएँ थी। नवाब साहब नें ब्रजभाषा में गाये जानेवाली सदियों से चली आ रही लोक परंपरा के अनुसार कृष्ण रास, चाचरी भावात्मक नृत्य-नाट्य प्रस्तुत करते थे। नवाब नृत्य और नाट्य के अद्भुत ज्ञाता थे। अपनी कल्पना से नित्य नवीन नाट्य प्रस्तुत करते थे। इसमें नवाब साहब स्वयं कृष्ण और बेगमें गोपियाँ बनती थी। नवाब के समय उनके चारों ओर का वातावरण संगीतमय हुआ करता था। नवाब साहब ने दो संस्थाओं की भी स्थापना की थी-

1. इन्द्र सभा - जो संगीत, नाट्य रंगमंच से नित्य नये प्रयोगों के लिए और

2. परीखाना - जो अंतःपुर महिलाओं के लिए।

अवध के अंतिम नवाब-कलाप्रेमी नवाब वाजिद अली शाह का जन्म 30 जुलाई 1822 ई. मं हुआ और सन् 1847 ई. नवाब साहब राजगद्दी पर आसीन हुए। 1850 ई. के लगभग इनके राज्यकाल में संगीत की बड़ी उन्नति हुई। वे एक ओर संगीत प्रेमी और दूसरी ओर संगीत ज्ञाता थे। इनके दरबार में कोदउ सिंह ऐसे पखावजी और महाराज कालका बिन्दादीन ऐसे नृत्याचार्य थे, जिन्हें नवाब साहब ने बहुत इज्जत और धन भी दिया। इसी समय ठुमरी का प्रचलन अधिक हुआ। स्वयं वाजिद अली शाह 'अख्तर पिया' के नाम से और महाराज कालका बिन्दादीन 'सनद पिया' के नाम से अनेक रचनाएँ की। इनके अलावे 'चाँद पिया', 'कदर पिया', 'ललन पिया' आदि उपनामों से अनेक ठुमरियों की रचना हुई। इसी समय कालका बिन्दादीन द्वारा नृत्य की अत्यधिक उन्नति हुई। इसलिए यह काल अर्थात् नवाब वाजिद अली शाह का राज्यकाल ठुमरी और कथक नृत्य के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा, यानि संगीत को विकास की चरम सीमा तक पहुंचाने के लिए यह काल फलप्रसून रहा और लखनऊ को भारत में ठुमरी का केन्द्र स्थल माना जाने लगा। कहा जाता है लखनऊ से ही ठुमरी बनारस गई।

1856 ई. में अंग्रेज सरकार ने नवाब साहब को बंदी बनाकर 12 लाख रू. की वार्षिक पेंशन देकर कलकत्ता के निकट 'मटियाबुर्ज' नामक स्थान पर भेज दिया। फलस्वरूप पूर्वी भारत में भी ठुमरी का काफी प्रचार-प्रसार हुआ। सन् 1887 ई. में मटियाबुर्ज में ही भारतवर्ष के महान् विभूति नवाब वाजिद अली शाह अपनी यश पताका लहराते हुए पार्थिव शरीर को त्यागकर परलोक गमन कर गए।

नवाब साहब की कीर्ति का वर्णन जितना भी की जाए कम है। इन्होंने संगीत के विकास के लिए अभूतपूर्व योगदान दिया है, इसके लिए संगीत जगत सदा ऋणी रहेंगे।

'अख्तर पिया' के नाम से जितनी भी ठुमरी हैं, नवाब साहब की ही रचना है।

5. नवाब साहब ने 'नाजो' और 'बन्नो' नामक दो पुस्तकें भी लिखी हैं।

कहा जाता है कि संगीत, नृत्य और नाट्य के अद्भुत ज्ञाता, मर्मज्ञ तथा संगीत प्रेमी नवाब वाजिद अली शाह को अंग्रेजी हुकूमत ने जब गद्दी छोड़ने का आदेश दिया तो उस आदेश को स्वयं रचित प्रसिद्ध ठुमरी 'बाबुल मोरा नैहर छूटो ही जाए' गाकर दरबार में सुनाया था। स्पष्ट है कि नवाब साहब एक उच्च कोटि के संगीतज्ञ थे। नवाब साहब स्वयं भी संगीत की शिक्षा प्रदान करते थे। इनकी कुछ प्रसिद्ध ठुमरी निम्नलिखित हैं-

6.''तट पनियाँ कैसे जाउँ रे,
सखी गागर नटखट हट
मुकुट वाले मोसे,
करत ठिठोली बंशीवट यमुना तट पनियाँ
उचक-उचक कहाँ देखे अख्तर
तट पनघट बंशीवट यमुना तट पनियाँ...''
7.''फुलवाले कंत मैका
बसंत गुडवा मोल ले दे, फलवा
अख्तर पिया सो, यो जा कहियो
तनक सो बिरवा तोड़ दे रे...,
फुलवा...''

अंत में सृष्टि और संहार का चक्र जबतक चलता रहेगा तबतक संगीत के प्रचार-प्रसार हेतु अपने संपूर्ण जीवन को न्योछावर करने वाले ''नवाब वाजिद अली शाह'' का नाम संगीत जगत् में अमर रहेगा।

संदर्भ :

1. सिन्हा गुरू बनमाली (समन्वयक), पुनश्चर्या कार्यक्रम दिनांक 26.12.02 से 15.01.03, भातखण्डे संगीत संस्थान, कैसरबाग लखनऊ, पृ. - 57
2. वही पृ.-206-207
3. वही पृ.-58
4. वही पृ.-209
5. वही पृ.-211
6. वही पृ.-210
7. वही पृ.-211

संगीत सर्वोत्तम कला

डॉ0 पुष्पम नारायण

कला सफल अभिव्यक्ति का नाम है और अनुभूति जब तक सफल न हो अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। आत्मोपलब्धि की सत्य प्रतीति का रूप विधान द्वारा सृष्टि ही कला है, गायक उसे ध्वनि से, चित्रकार रंग रेखा से, वास्तुकार ईंट पत्थर से, कवि शब्द वाक्यों से रूपायित करते हैं। बाह्य रूप कुछ भी हो उनका आंतरिक लक्ष्य एक ही है। भारतवर्ष में कला की प्रतिष्ठा वैदिक संस्कृति के विकास काल में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। कला शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ था। यथा 'कलां यथा शफं ऋणं संनयामसि' उपनिषदों में कला शब्द का प्रयोग किया गया है। यथा प्राचीविक् कला, दक्षिणाद्विक कला, उदीचीटिक् कला। कला शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शांखायन ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक आदि वैदिक ग्रंथों में प्रमुख रूप से हुआ है। कला के समानार्थी शिल्प शब्द का प्रयोग ब्राह्मण ग्रंथों तथा संहिताओं में भी मिलता है। पाणिनी रचित अष्टाध्यायी में तथा बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में जिस 'शिल्प' शब्द का प्रयोग किया है वह कला के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। कालिदास ने भी कला के लिए शिल्प का प्रयोग किया है। अष्टाध्यायी में जो कारूशिल्पी और चारूशिल्पी शब्द आयें हैं वे उपयोगी और ललित कलाओं के लिए प्रयुक्त किये गए हैं।

'ललितस्तवराज' के अनुसार शिव को जब लीला के प्रयोजन की अनुभूति होती है, तब महामाया, जो शक्तिरूपा हैं, जगत की सृष्टि करती है। अतः यह शिव की लीला सखी होने के कारण ललिता नाम से जानी जाती है। इन्हीं ललिता के लालित्य से ललित कलाओं की सृष्टि हुई। यही ललित कलाएं लालित्य और आनंद की निधि हैं।

वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में अंगभूत कलाओं के रूप में 64 कलाओं को निरूपित किया है। इनमें उपयोगी और ललित सभी कलाओं को सम्मानित किया गया है। शुक्रनीति में भी 64 कलाओं की संख्या दी गई है।

ललित विस्तार में पुरूष कला विषयक 86 कलाएं तथा 64 कलाओं का निर्देश दिया है। प्रबंध कोष के अनुसार कलाओं की संख्या 72 है। क्षेमेन्द द्वारा रचित 'कला-विलास' ने कलाओं की संख्या सर्वाधिक निर्धारित की गई है। उपरोक्त विवरण इस मत की पुष्टि करता है कि हमारे यहां विद्वानों ने कला संबंधी साहित्य पर पर्याप्त विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने उपयोगी और ललित दोनों प्रकार की कलाओं को कला कोटि में रखा है।

मार्कण्डेय मुनि द्वारा रचित विष्णु धर्मोत्तर पुराण' में राजा बज्र को संबोधित करते हुए कला को धर्म, अर्थ और मोक्ष का दाता कहा है।

कलानां प्रबरं चित्र धर्म कामार्थमोक्षदम।
मंगल्यं प्रथमं चैतदगृहे यच प्रतिष्ठितम्।।

कला एक जादू है जिसके माध्यम से मनुष्य की इन्द्रियां उसका मस्तिष्क सौन्दर्य के रहस्य को खोलता है। प्रकृति प्रभु की देन है, कला मानव की कृति। कला प्रकृति से प्रेरणा लेकर उसे विभिन्न रूप देती है और वास्तविकता को खोजती है। ऐसे में कला काम करने की वह शैली है जिसमें हमें सुख का आनन्द मिलता है ईश्वर प्रकृति को रचता है और

एसोसियेट प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा

मनुष्य कला को उकेरता है। अतः मनुष्य जो कुछ भी सुन्दर रचता है वह कला की वस्तु कहलाती है।

कला शब्द की उत्पति संस्कृत के 'कम्' एवं 'ला' शब्दों के मिश्रण से हुई है। कम् अर्थात् आनंद, ला अर्थात् लाना। इस प्रकार कम आनंद लाती इतिकला अर्थात् जो क्रिया आनंद लाती है वही कला है।

कला का स्वरूप बंधा हुआ नहीं है। वह अपने आप में नियमों के दायरे में सीमित रहकर भी स्वतंत्र है उसे कोई बंधनों में नहीं जकड़ सकता। कला के भी अपने शास्त्र-नियम होते हैं परंतु फिर भी वह अपने आप में पूर्ण व स्वतंत्र है। कला की व्याख्या अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से की है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में - "जो सत्य है, जो सुन्दर है वही कला है।"[1] फ्रांस के समालोचक फागुए के विचार में - "कला भाव की उस अभिव्यक्ति को कहते हैं जो तीव्रता में मानव हृदय को स्पर्श कर सकें।"[2]

इस प्रकार कला संबंधी विचारों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि कलाकार की कल्पना सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार के विचारों को टालस्टाय ने भी अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"कला एक मानवीय चेष्टा है, जिसमें मनुष्य अपने जीवन में साक्षात्कार की हुई भावनाओं को ज्ञानपूर्वक कुछ संकेतों द्वारा प्रकट करता है। उन भावनाओं को ज्ञानपूर्वक कुछ संकेतों द्वारा प्रकट करता है। उन भावनाओं का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है। उसमें उसकी अनुभूति होती है।"[3]

एक अंग्रेजी ग्रंथकार ने कला की व्याख्या करते हुए कहा है-

"The art is most simply and most usually defined as an attempt to create pleasing forms. Such forms satisfy our sense of beauty."

कला की व्याख्या करते समय मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है- "अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति कला है।"[4]

प्रख्यात यूनानी दार्शनिक अरस्तू की मान्यता है कि कला अनुकरण है। जौन रसकिन का विचार है - "प्रत्येक महान कला ईश्वरीय कृति के प्रति मानव के आह्लाद की अभिव्यक्ति है। ईश्वरीय कृति किसी भी प्रकार की हो उसका प्रभाव यथावत रहेगा।[5]

कला भावनाओं की अभिव्यक्ति द्वारा असुन्दर को सुन्दर बनाने वाली एवं प्राणदायिनी गंगा है। परंतु प्रायः विद्वानों को कहते सुना गया है कि इस संसार में कोई भी वस्तु असुन्दर नहीं है समस्त संसार ही सुन्दर है। वास्तव में देखा जाये तो कला ही है जो असुन्दर को सुन्दर बनाती है। कला और सौन्दर्य का होना आवश्यक समझा गया है जिसमें सौन्दर्य नहीं उसे लोगों ने कला माना ही नहीं। यदि कला शरीर है तो सौन्दर्य उसका प्राण है। कला की परिभाषा बताते हुए कहा गया है कि "किसी कार्य को सुन्दरता के साथ करना ही कला है।[6]

मानसिक दृष्टि से आह्लादकारक चेष्टाएं मनुष्य के भाव जगत को निरंतर सरलता और सुन्दरता प्रदान करती रही है। इस प्रकार कर्म कुशलता ही कला है। कला में जीवन के तत्वों को दर्शाया जाता है। प्रकृति और कला का तथा प्रकृति और कलाकार का अटूट संबंध बताया गया है। प्रकृति और कला एक दूसरे की सहयोगी है। प्रकृति ईश्वर की देन है और कला मानव निर्मित है। जैसे श्यामघन, विद्युत छटा, प्रभात काल में उषा की लालिमा, सूर्य किरणों का कलोल, मुक्त आकाश में पक्षियों का चहचहाना या तारों से भरा आसमान, समुद्र के मस्तिष्क पर सूर्य की किरणों का प्रतिबिम्ब, फूलों का घूंघट खुलते ही भंवरों का गुनगुनाना ये सब प्रकृति की देन है। इसी सौन्दर्य को रंगों से कागज पर उतार लेना या अपनी मधुर वाणी के माध्यम से पेश करना ये सब कला है। इस प्रकार प्रकृति और कला दोनों एक दूसरे की सहायक हैं। प्रकृति कला को प्रेरित करती है और कला प्रकृति का सच्चा रूप लोगों पर प्रकाशित करती है। कला भावों की उस अभिव्यक्ति को कहा गया है जो मानव हृदय को तीव्रता से स्पष्ट करें। कला सुन्दरता का अविष्कार है अर्थात् जिस कला से आनंद का अनुभव हो और जिस कला से मन में उच्च भावनाएं उत्पन्न हों वही सच्ची और देर तक रहने वाली कला है। कला और जीवन का चोली-दामन का साथ है। जीवन के उत्कर्ष के लिए कला एक मार्ग-दर्शक है।

विश्वव्यापी इस कला में मुख्यरूप से कुछ कलाएं अनेक कारणों के परिणामस्वरूप केवल कला न रहकर ललित कला बनी है। आज कलाओं में हम ललित कला को प्रधानता देते हैं। ललित का अर्थ है-सुन्दर अर्थात् वह कृति जिसमें सुन्दरता का अविष्कार हो और जिससे रस की निर्मिति हो, जिससे निर्माता और उसे देखने वाले दोनों को आनंद का अनुभव हो।[7]

मधुरता, आकर्षण, सौन्दर्य, सहजता, सरलता, सूक्ष्मता, प्रासाद, ओज, प्रवाह आदि बातें लालित्य के अंतर्गत रखी जा सकती है। लयात्मकता लालित्य के विशेष गुणों में गिनी जाती है। किसी भी वस्तु में इन उपर्युक्त गुणों में से एक गुण का भी अभाव हो तो उसके लालित्य में अंतर आ जाता है। ये सारी बातें जिस कला में सम्मिलित हों उसे ही ललित कला कहा जाता है।

कला फिर वह कोई भी हो उस का उद्देश्य मुख्यतः कलाकार के भाव संवेगों को सौन्दर्यपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करना है जिससे सौन्दर्य निर्मित हो सके। सौन्दर्य का निर्माण भी तभी और उसी कला से हो सकेगा जिसमें लालित्य का समावेश होगा।

मुख्यतः ललित कलाएं पांच मानी गई हैः-

1. संगीत कला
2. काव्य कला
3. चित्र कला
4. मूर्ति कला
5. वास्तु कला

संगीत, काव्य, चित्र, मूर्ति या वस्तु कोई भी कला ऐसी नहीं जो ईश्वरीय आनंद की अनुभूति कराने में पीछे हो। सभी कलाएं अपने आप में श्रेष्ठ मानी जाती है। किसी भी कला की किसी दूसरी कला से तुलना नहीं की जा सकती।

ललित कला का मुख्य गुण उसकी नवीनता माना गया है। प्रत्येक दिन कला का नवीन रूप हमारे सामने आता है। कला अनेक रूपों और कारणों से प्रकट होती रहती है। पाश्चात्य विद्वान कला को केवल कला के लिए मानते हैं परंतु पूर्व के विद्वान कला आत्मा के लिए मानते हैं। कला हर परिस्थिति में, हर काल में, अलग-अलग दिखाई पड़ती है। कलाकार ने अपने अंतःकरण के भावों को व्यक्त करने के लिए कला का सहारा लिया और सभी भूले-भटके समाज को नई दिशा देने, यानि किसी बात की प्रेरणा प्रदान करने के लिए कला को साधन बनाया।

आदि मानव या प्रागैतिहासिक काल की कला मनुष्य के भावों की अभिव्यक्ति का मुख्य साधन थी। आधुनिक समय में ही कला का मुख्य उद्देश्य अनुभूति कराना माना गया है। आज भी भावों की अभिव्यक्ति कला में होती है। परंतु भाव की स्पष्टता ही नहीं वरन् आनंद की प्राप्ति भी कला का प्रमुख उद्देश्य है।

यद्यपि कलाओं द्वारा उत्पन्न आनंद और सौन्दर्य में गुणात्मक अंतर करना संभव नहीं फिर भी कुछ विद्वानों ने ललित कलाओं में संगीत कला को श्रेष्ठ माना है। कला की श्रेष्ठता का आधार, माध्यम उसकी अमूर्तता माना गया है। जिस कला का मूर्त आधार जितना कम या माध्यम जितना कम हो वह कला श्रेष्ठ मानी जाती है।

इस दृष्टि से सभी कलाओं में वास्तुकला अंतिम श्रेणी में आती है। कारण यह है कि इनमें माध्यमों की बहुतायत रहती है। ललित कला वास्तु कला के द्वारा भावाभिव्यक्ति के लिए किसी सुन्दर भवन का निर्माण किया जाता है जिसके लिए धन, समय का व्यय व ईंट पत्थर, गारा चूना, हथौड़ी, छैनी आदि यंत्रों की आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि वह कला बनने के पश्चात् सुखदायक व आंखों को संतुष्ट करने वाली होती है परंतु माध्यमों की अधिकता होने के कारण अन्य कलाओं की अपेक्षा इसका स्थान निम्न कोटि का है। उसी प्रकार मूर्तिकला द्वारा भावनाओं की अभिव्यक्ति के नमूने भारतीय मंदिरों, कलावीथियों, आर्ट गैलरीज, सरकारी भवनों आदि में निर्मित भारतीय संत-योगी, धार्मिक नेता, योद्धागण बलिदान देने वालों और कलाकारों की मूर्तियों के रूप में देखे जा सकते हैं। इन कलाओं को समझने के लिए दर्शक में अनुभव व ज्ञान की आवश्यकता होती है। मूर्तिकला में मूर्त, आधार, पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी आदि के टुकड़े होते हैं जिन्हें मूर्तिकार कांट-छांट कर अपने विशिष्ट आकार में परिणत करता है। यद्यपि इस कला में वास्तुकला जितनी जगह की आवश्यकता नहीं फिर भी अन्य

कलाओं जितने कम माध्यम से इसका काम नहीं चलता इसलिए इस कला को वास्तुकला से उच्च स्थान प्राप्त है।

ललित कलाओं में संगीत की श्रेष्ठता

गायन, वादन और नृत्य की त्रिवेणी संगीत सर्वश्रेष्ठ ललित कला मानी जाती है। यह मानव जीवन का अभिन्न अंग है। स्वर जिसका कोई आकार नहीं, जिसका कोई रंग नहीं, जिसके परिमित संसार में जन कलाकार और श्रोता खो जाते हैं, तो सूक्ष्मता ही हद पार करने लगते हैं। भाषा के भंडार से चुने हुए केवल सात स्वर असंख्य रोगों के जन्मदाता बन जाते हैं। क्या ये सूक्ष्मता की हद नहीं? इतनी कम सामग्री और इतना असीमित संसार। स्वर का साथ देती हुई लय जब ताल में बंध जाती है तो वही कंपन सुनने और सुनाने वाले की हृदय की धड़कन बन जाती है। यही कारण है कि संगीत का जादू जड़-चेतन, जीव-जन्तु प्रत्येक पर अपना अधिकार बना लेता है।

संगीत का मूल आधार नाद हैं नाद अपने आप में पूर्ण है उसे किसी बाह्य अमूर्त आधार की आवश्यकता नहीं। संगीत में गायन, वादन और नृत्य का समावेश माना जाता है। वादन और नृत्य में यद्यपि उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। परंतु गायन में किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह मानव कंठ से सहज ही विना किसी आधार के उत्पन्न हो जाता है इसीलिए गायन को परमतत्व के निकट माना है।

जहां उन कलाओं की वाणी हृदय की सूक्ष्मतम भावनाओं की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ होती है वहां संगीत कला सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को प्रकट करने में समर्थ है। संगीत द्वारा उन भावों को भी पूरी समग्रता के साथ, व्यक्त किया जा सकता है जो कल्पनातीत है। संगीत कला अपनी इसी शक्ति के कारण लोगों को शताब्दियों से आश्चर्यचकित करती आ रही है।

चित्रकला को वस्तु कला और मूर्ति कला जैसे कठोर माध्यमों की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें चित्रकार रंगों, तूलिका व कैनवास आदि माध्यमों का आधार लेकर भावों की अभिव्यक्ति करता है। चित्रकार को अपनी कला की सूक्ष्मता को दिखाने के लिए मूर्तिकार से अधिक कौशल से काम लेना पड़ता है।

काव्य कला को मूर्तिकला एवं चित्रकला की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्राप्त है। काव्य कला माध्यम है भाषा, शब्द। इन दोनों की ही सहायता से काव्य-निर्मिति होती है। इसमें मन के भावों को व्यक्त करने के लिए शब्द की आवश्यकता होती है। काव्य का यह शब्द समूह भिन्न व्यक्ति समूह के लिए भिन्न-भिन्न होते हैं। इन्हीं संकेतों से भाषा चलती है अर्थात् प्रत्येक समाज में भापा अलग-अलग होती है। इस कारण प्रत्येक भाषा का साहित्य प्रत्येक समाज में समझा नहीं जा सकता अर्थात् यहां काव्य को समझने के लिए भाषा की सीमितता उत्पन्न हो गई। शब्दों को भावों का प्रतिनिधित्व दिया गया है जब भावों के इन प्रतिनिधियों से बनने वाली भाषा का बंधन काव्य में आ जाता है तब उसका माध्यम भी स्थूल बन जाता है। शब्द मानव निर्मित है। वे अपने आप में पूर्ण नहीं है। शब्द यद्यपि वाणी के नाद से संबंधित है फिर भी काव्य में शब्दों का सहारा होने के कारण मूर्त माध्यम का आधार पूर्ण रूप से छोड़ा नहीं गया है। इस कारण काव्यकला यद्यपि वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला से उच्च है, परंतु सर्वोच्च नहीं है। साहित्य में भले ही ललित साहित्य का सर्वोच्च स्थान माना गया है। साहित्य की अपेक्षा संगीत की श्रेष्ठता में यह कहा जा सकता है कि काव्य में अनेक संतुलित शब्दों के योग से जिन भावों की सृष्टि होती है, संगीत में उन्हीं भावों को कुछ स्वरों द्वारा प्रकट किया जा सकता है। यद्यपि गायन में शब्दों का प्रयोग किया जाता है पर संगीत के अंतर्निहित भावों के स्पष्टीकरण अथवा श्रोताओं के हृदय में रस उत्पन्न करने के लिए हर समय शब्दों का सहारा लेना आवश्यक नहीं होता। श्रोताओं को प्रभावित करने में एक कुशल वादक भी उतना ही समर्थ होता है जितना एक कुशल गायक।

अन्य कलाओं की अभिव्यक्ति का आधार प्रायः स्वयं संवैद्य (स्वयं अनुभव करने योग्य) न होकर परसंवैद्य होता है। अतः उन कलाओं में कलाकार हमारे सामने जिस सत्य का प्रकटीकरण करते हैं

उनका संबंध हमारे मन से नहीं अपितु हमारे बुद्धि मात्र से होता है। अतः उन कलाओं के साथ अंतर्भूत होना अनिवार्य नहीं। परंतु संगीत का विषय श्रोता का अपना ही अंतःकरण है। संगीत के अंदर ताल से चलनेवाली नियमित गतियों का आत्मा से निकट संबंध है। यही कारण है कि संगीत में जो लोच, माधुर्य है वह हमें बाह्य जगत से खींचकर अंतर्मुखी बना लेता है और हम चरम आनंद में लीन हो अपना अस्तित्व कुछ समय के लिए भूल जाते हैं।

इन्हीं कारणों से संगीत कला को ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। संगीत की भाषा विश्व की भाषा है। जहां भाषा मूक हो जाती है वहां संगीत की भाषा मानव मन की स्वाभाविक अनुभूतियों को प्रकट करने में समर्थ होती है। इस प्रकार कलाओं के मूर्ताधार तथा माध्यम को देखते हुए संगीत कला को सर्वश्रेष्ठ मानना पड़ता है।

संदर्भ सूची :

1. दास कुसुम, भारतीय कला परिचय, पृ0 1
2. दास कुसुम, भारतीय कला परिचय, पृ0 1-6
3. संगीत कला विहार, अप्रैल, 1977, पृ0 174
4. संगीत कला विहार, अप्रैल, 1977, पृ0 174
5. लाल चिरंजी, कला के मूल तत्व, पृ0 1
6. संगीत कला विहार, मई, 1969, पृ0 25
7. संगीत, नवंबर, 1974, पृ0 29

संगीत और गान्धर्ववेद

डॉ. आनन्द कृष्ण ज्योतिषी

प्रायः आज विश्व का प्रत्येक समुदाय या व्यक्ति किसी न किसी रूप से संगीत से जुड़ा हुआ है। विभिन्न देशों की अपनी-अपनी विभिन्न प्रकार की संगीत शैलियां हैं जो मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट करती है। संगीत की उन सभी शैलियों का अपना-अपना महत्त्व है, किन्तु भारतीय संगीत सबसे अधिक प्राचीन है और उसका विश्व में विशिष्ट स्थान है, जिसकी तुलना किसी भी अन्य संगीत से नहीं की जा सकती है।

भारतीय संगीत की दो विशिष्ट शैलियां हैं- एक 'उत्तर भारतीय संगीत शैली' दूसरी 'दक्षिण भारतीय संगीत शैली' जिसको कर्णाटकीय शैली भी कहा जाता है।

यहां विशेष रूप से उत्तर भारतीय संगीत शैली के संदर्भ में चर्चा की जाएगी जिसे हिन्दुस्तानी संगीत भी कहा जाता है।

प्रत्येक संगीत साधकों तथा प्रबुद्ध संगीत श्रोतागणों के मन में यह जिज्ञासा होती है कि हमारा भारतीय संगीत क्या है? उसका महत्त्व क्या है? उसका इतिहास क्या है? वह कबसे है और उसकी प्राचीनता कबसे है? उसकी प्रमाणिकता क्या है?

सामान्य रूप से कलाकार यह तो जानते हैं कि हम जो गाते बजाते हैं उसे शास्त्रीय संगीत, उपशास्त्रीय संगीत या लोक संगीत कहा जाता है तथा वह बहुत प्राचीन है, किन्तु वे ठीक-ठीक प्रकार से नहीं जानते कि वह कितना प्राचीन है और उसका प्रमाणित आधार क्या है? अतः आज के समय में यह अति आवश्यक है कि इन सभी तथ्यों को ठीक-ठीक रूप से इतिहासज्ञ जानते हैं कि संगीत का इतिहास वैदिक युग से जुड़ा हुआ है जो विश्व के किसी भी इतिहास से प्राचीनतम युग माना गया है। वैदिक साहित्य में वेदों के रूप में चार वेद प्रसिद्ध हैं- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इन चार वेदों के पृथक-पृथक चार उपवेद हैं जिनमें 'गान्धर्ववेद' सामवेद का उपवेद माना जाता है। उपरोक्त चार वेदों में 'सामवेद' गानात्मक है। संगीत का मूल स्त्रोत 'सामवेद' को ही कहा गया है। संगीत की दृष्टि से 'सामवेद' का विशिष्ट स्थान है। श्रीमद् भागवत् गीता में तो सामवेद को ईश्वर का अंश माना गया है-वेदाना सामवेदोस्मि (भगवद्गीता 10/42), 'साम' शब्द का मूलार्थ 'गान' अर्थात् गेय वस्तु रहा है। जिस प्रकार शास्त्रीय संगीत को सामवेद से जोड़ने की परंपरा है उसी प्रकार यह धारणा भी प्रचलित है कि वैदिक संगीत की धारा से पूर्णतया भिन्न गान्धर्व संगीत की धारा से हमारा संगीत जुड़ा हुआ है। इसीलिए 'सामवेद' को 'गान्धर्ववेद' कहा गया है।

'गान्धर्व' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में कहा गया है कि जो स्तुति रूप या गीत रूप वाक्यों को अथवा रश्मियों को धारण करता है वह 'गान्धर्व' है और उसी की विद्या 'गान्धर्व विद्या' या 'गान्धर्व उपवेद' है। गान्धर्व वेद का उद्देश्य देवताओं की आराधना तथा निर्विकल्प (नाम रूप रहित) नादब्रह्म की साधना व समाधिरूप परम अवस्था की प्राप्ति है।

गान्धर्व वेद के सिद्धांत के अनुसार शब्द और वस्तुरूप अर्थ के बीच एक घनिष्ठ संबंध है। दोनों के स्पन्दन का आधार सूक्ष्म दिव्य नाद है। इसी की

उद्भावना एवं सद्भावना का वितान शास्त्रीय संगीत है।

गान्धर्ववेद गीत (गायन) वाद्य (वादन) एवं नृत्य भेद से बहुविध प्रकार से प्रवर्तित हुआ है जो वैदिक संगीत की परंपरा से नितान्त भिन्न 'गान्धर्व परंपरा' के अंतर्गत हमारी आज की प्रचलित शास्त्रीय संगीत की परंपरा (गायन-वादन-नृत्य) से जुड़े होने के संकेत देता है। आज गान्धर्ववेद किसी ग्रंथ के रूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु भरतमुनि जिन्होंने गान्धर्व वेद के सिद्धांतों की व्याख्या अपने महान ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में संगीत की सभी विधाओं के संदर्भ में विस्तृत रूप से की है। वह हमारे प्राचीन भारतीय संस्कृति की विशाल धरोहर है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में 'साम' संगीत से भिन्न 'गान्धर्व संगीत' की परंपरा का उल्लेख इस प्रकार किया है :-

मध्यमस्य विनाशस्तु कर्तव्यो न कदाचन।
सर्वस्वराणां प्रवरो हृयविनाशी तु मध्यमः।
गान्धर्वकल्पेभिमतः सामगैश्च महर्षिभिः।।

(ना.शा. 28/69)

अर्थात् 'गान्धर्वगान' तथा 'सामगान' इन दोनों परंपराओं में मध्यम स्वर सब स्वरों में प्रवर माना गया है। भरत के इस वचन से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि ये दो परंपरायें भिन्न थीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि वेदों की भांति 'वैदिक संगीत' भी अत्यंत प्राचीन काल से प्रचार में था तथा ठीक उसी प्रकार से उतने ही प्राचीन काल से गान्धर्वगान शैली (जिसे हम वर्तमान में प्रचलित शास्त्रीय एवं लोक संगीत (लोकगीत) की शैलियां कह सकते हैं।) की धारा भी बहती चली आई है। यहां गान्धर्वमान शैली के साथ शास्त्रीय एवं लोकगीत संगीत शैली का नाम इसलिए जोड़ा है क्योंकि भरतमुनि के बाद उनके अनुयायी आचार्य मतंगमुनि ने 'बृहद्देशी' नामक अपने ग्रंथ में संगीत की दो शैलियों का उल्लेख किया है-

1. मार्ग
2. देशी।

देशी का यहां लोकगीत एवं लोक नृत्यादि अर्थ लेना उचित होगा, जिसके संबंध में आचार्य शारंगदेव के 'संगीत रत्नाकर' ग्रंथ के आरंभ में श्लोक मिलते हैं:-

मार्गो देशीति द्वधा तत्र मार्गः स उच्यते।।
यो मार्गितो विरिंचयाद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः।।
देवस्य पुरतः संभोर्नियताभ्युदयप्रदः।
देशे देशे जनानां यदुच्या हृदयरंजकम्।।
गीतं च वादनं नृत्तं तद्देशीत्यभिधीयते।

(सं.र. 1/1/21-4)

अर्थात् गीत, वाद्य और नृत्य ये तीनों संगीत कहलाते हैं। 'मार्ग' और 'देशी' भेद से संगीत दो प्रकार का है। 'मार्ग' उसे कहते हैं जिसे ब्रह्मादि (देवताओं) ने खोज निकाला है और भरतादि (मुनियों) ने भगवान शंकर के सम्मुख प्रयुक्त किया है। यह संगीत 'नियत' रूप से अभ्युदय (कल्याण) देने वाला होता है एवं दूसरा जो गीत, वादन और नृत्य देश-देश में जनरूचि के अनुसार लोक का हृदयरंजक होता है, वह 'देशी' कहलाता है।

'मार्ग' और 'देशी' की उपरोक्त व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि 'मार्ग' उसे कहा गया है जिसे भरतादि मुनियों - देवों द्वारा शास्त्रों का आधार प्राप्त हो चुका था तथा जो देवताओं की पूजा एवं स्तुति के लिए प्रयुक्त था। संभवतः इसका अर्थ यह है कि मार्ग संगीत विशिष्ट शास्त्रीय नियमों द्वारा अधिक नियमबद्ध है तथा वह आध्यात्मिक कार्यों के लिए उपयुक्त माना गया है तथा 'देशी' के लिए कहा गया है कि वह लोकरंजन के लिए उपयुक्त था, जो विभिन्न देशों विभिन्न गांव नगर की जनरूचि के आधार पर गायन-वादन और नृत्य के माध्यम से प्रयुक्त होता था। 'संगीत रत्नाकर' के राग प्रकरण में 'ग्रामराग' और 'देशीराग' इन दो भेदों के अंतर्गत रागों के वर्णन में 'ग्रामराग' को ही 'मार्गराग' कहा गया है। 'देशीराग' के लिए कहा गया है कि इसमें 'ग्रामराग' या 'मार्गराग' की भांति नियम कठोर नहीं होते हैं। यथा-

देशीत्वं नाम कामचारप्रर्तितत्वम्।
तद्त्र मार्गरागेषु नियमो यः पुरोदितः।
स देशीरागभाषादावन्यथापि क्वचिद्भवेत्।

(सं.र. 2/2 पर कल्लिनाथ की टीका)

अर्थात् 'देशी' में यथेच्दाचार या 'कामचार' रहता है। 'मार्गरागों के लिए जो नियम बताए गए हैं, देशी रागों में उन नियमों का कभी-कभी भंग भी हो सकता है।

रागों की ही भांति तालों में भी शारंगदेव ने 'मार्गताल' और 'देशीताल' ये दो भेद बताए हैं और वहां भी 'कामचार' को ही 'देशी' तालों का लक्षण बताया है जो उन्हें मार्ग-तालों से पृथक करता है।

वर्तमान संगीत के संदर्भ में 'मार्ग संगीत' एवं 'देशी संगीत' को इस प्रका समझा जा सकता है 'मार्ग संगीत' नियमबद्ध है तथा देव स्तुति व पूजा के लिए उपयुक्त था। इसे आज की प्रचलित ध्रुपद शैली के संदर्भ में विचार करें तो प्राचीन ध्रुपद की बंदिशों में प्रायः देव स्तुति, देव महिमा का वर्णन हुआ करता था और आगे चलकर राज्याश्रय में संगीत पला बढ़ा, अतः राजाज्ञा के अनुसार ध्रुपद की बंदिशों में श्रृंगारादि वर्ण्य वस्तु भी स्थान लेने लगी, किन्तु शास्त्रीय नियमों में ढील नहीं आई। लगभग यही स्थिति ख्याल शैली के साथ भी रही है। अतः आज प्रचलित 'ध्रुपद' एवं 'ख्याल' शैलियां प्राचीन 'मार्ग संगीत' के साथ सीधे-सीधे जुड़ी हुई है, जो मंच प्रदर्शन का भी स्वरूप ग्रहण कर चुकी है। इसी प्रकार 'देशी संगीत' के संबंध में कहा गया है कि विभिन्न देशों (गांव कसबा आदि) में जनरूचि के आधार पर जो गायन-वादन-नृत्य होता है, उसके नियम 'मार्ग संगीत' की भांति कठोर न होकर ढील देने की स्वतंत्रता थी। ठीक उसी प्रकार आज लोक परंपरा में भी नियमों में ढील दी जाती है, किन्तु यहां यह ध्यान देने योग्य है कि उपरिलिखित सभी परंपरागत संगीत शैलियों में स्वरादित तात्विक भेद नहीं है।

जहां तक वैदिक 'सामगान' परंपरा का सांगीतिक स्वरूप कैसा था? उसके संबंध में वेद के प्रकाण्ड विद्वान ही विस्तार से बता सकते हैं, किंतु मैं केवल इतना कहना चाहता हूं कि 'सामगान' में सप्त स्वरों का प्रयोग उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन स्वर स्थानों में किया जाता था। वैदिक स्वरों को क्रमशः कुष्ट, प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, मन्द और अतिस्वार्य कहा जाता था। लौकिक स्वरों का विकास भी वैदिक युग में ही हुआ था, इसका प्रमाण ''पाणिनी शिक्षा'' में मिलता है-

उदान्ते निषादगान्धारावानुदात्त ऋषभधैवतौ।
स्वरितः प्रभवा ह्योतो षड्जमध्यमपंचमाः।।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि हमारे संगीत का संबंध वैदिक काल से है तथा उसका संबंध 'गान्धर्ववेद के साथ अटूट रूप से बना हुआ है।

सिख धर्म में कीर्त्तन का महत्त्व

डॉ. जतिन्द्र कौर

मानव जीवन की चरम उपलब्धि की सिद्धि के लिए महापुरूषों ने जो विभिन्न मार्ग बताएं हैं उन्हें धर्म कहते हैं। धर्म के अनेक मार्गों में से एक महत्त्वपूर्ण मार्ग वह है जो गुरू नानक देव जी से लेकर गुरू गोविन्द सिंह तक अवतरित होनेवाले दस गुरूओं ने बताया है इसका नाम है- सिख धर्म।

सिख धर्म संसार के प्रचलित रीति प्रधान धर्मों से बिल्कुल अलग विलक्षण और मौलिक है। डॉ. आरनाल्डटायब्नी अपनी पुस्तक "सेकरिड राईटिंग्ज ऑफ दी सिख" में लिखते हैं कि सिख धर्म निःसंदेह हिन्दू-मुस्लिम आदर्शों का संधि स्थल कहा जा सकता है। इसकी सबसे विशेष एवं पवित्र प्राप्ति इस बात में है कि इसने हिन्दू-मुस्लिम विचारधारा की सांझी गहराईयों को ढूंढा एवं अपनाया इसलिए सिख अपने धर्म के मूल एवं सामाजिक प्रकृति पर जितना मान करें कम हैं।[1]

यह सत्य है कि हिन्दुओं में सामाजिक धरातल पर कुछ ऐसी कमजोरियां थीं जो उन्हें परस्पर द्वेष, ईर्ष्या और शत्रुता करना सिखा रही थी। हिन्दुओं में छुआछूत जातिवाद आदि ऐसी असमानताएं विद्यमान थीं जो एक-दूसरे को नीचा दिखा रही थी। अंधविश्वास और धर्मान्धता हिन्दू धर्म की जड़ें खोखली किए जा रही थी।

इन्हीं विकट परिस्थितियों में एक महान दिव्य ज्योति गुरू नानक देव जी के रूप में भारतवर्ष में अवतीर्ण हुए। इन्हीं महापुरूष और युग प्रवर्तक ने सिखधर्म की स्थापना की जो अपनी शुद्धता एवं विशेषताओं के साथ-साथ आध्यात्मिक एवं धार्मिक मार्ग दर्शक के रूप में अग्रसर होती हुई जनमानस में नए जीवन का संचार करने लगी।

सत्य के साथ एकलयता और अभेदता प्राप्त करने के लिए सिख को अपने जीवन में सत्य को धारण करना पड़ता है। अपने असली जीवन में सच्चे आचार को अपनाकर ही परम पद प्राप्त किया जा सकता है और इस सुविचार पद की प्राप्ति सिख सिद्धांत का परम लक्ष्य है।[2]

सिख शब्द को परिभाषित करते हुए डॉ. अजीत सिंह पेन्टल लिखते हैं कि "गुरू की सीख को माननेवाला ही शिष्य होता है और इस प्रकार जिन लोगों ने गुरू नानक देव जी से शिक्षा ग्रहण की अथवा अन्य सिख गुरूओं को अपना आध्यात्मिक मार्ग प्रदर्शक माना, सिख धर्म के अनुयायी कहलाए और उन्हें सिख कहा गया।[3]

सिखों के प्रथम गुरू नानक देव जी ने प्रारंभ से ही अपनी बात को दूसरों तक पहुंचाने के लिए संगीत का आश्रय लिया। उनका मानना था कि संगीत में मन को एकाग्र करने की शक्ति है और जब तक मन एकाग्र नहीं होता, हम किसी बात को सरलता से समझ नहीं सकते। गुरू नानक देव जी के साथ भक्ति संगीत का एक नया युग आरंभ होता है। गुरू नानक देव जी का कीर्त्तन के प्रचार में विशिष्ट योगदान है उन्होंने जीवनपर्यन्त अपनी शिक्षाओं और उपदेशों को जनसाधारण तक पहुंचाने के लिए संगीत के सशक्त माध्यम का आश्रय लिया।

प्रवक्ता, संगीत गायन, खालसा कॉलेज फॉर वूमैन, अमृतसर

कीर्त्तन का महत्त्व

अकाल पुरूख वाहेगुरू के नाम गुण यश आदि राग द्वारा सिफ्त सलाह (प्रशंसा) करने को कीर्त्तन कहते हैं। कीर्त्तन उस गायन को कहते हैं जिसमें वाहेगुरू की कीर्ति की जाए। यह सिख धर्म की भक्ति का एक खास अंग है। गुरूवाणी और राग को सुर-ताल या किसी सीधी धारणा में गाना और परमात्मा का यश करना कीर्त्तन है।[4] भाई कान्ह सिंह नाभा अनुसार गुरमति में राग सहित करतार के गुण गाने का नाम कीर्त्तन है।

कीर्त्तन करने और सुनने से अविद्या रूपी निन्द्रा में सोया मन जाग उठता है दुःख कलेश और रोग मिट जाते हैं। छाती शीतल और मन सुखी हो जाता है। पापों की मैल कट जाती है और निरंकार में ध्यान लग जाता है। हरि नाम का रस पीने के लिए सबसे उत्तम साधन कीर्त्तन है। इसके साथ लोक-परलोक संवर जाते हैं। जिनके मन कीर्त्तन में रंग जाते हैं उनके लिए लोक परलोक का कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं रहता। वह चारों पदार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।[5]

संसार के सभी धर्मों की तरफ देखते हुए कहा जा सकता है कि सिख धर्म ने संगीत को बहुत सम्मान दिया है। गुरू नानकदेव जी ने सिख धर्म को "कीर्त्तन निरमोलक हीरा" के रूप में संगीत का अद्वितीय वरदान दिया। सिख धर्म ने कीर्त्तन के रूप में संगीत को साधारण सांसारिक स्तर से उपर उठाकर दिव्य और अलौकिक मंडल के विचरण का माध्यम बनाया। संगीत द्वारा प्रभु से एकत्व प्राप्त करना ही सिख धर्म का आदर्श है।

गुरू नानक देव जी का आदेश था कि कीर्त्तन राग और लय में विहित होना अनिवार्य है क्योंकि इस प्रकार के कीर्त्तन में उच्चकोटि की तन्मयता की स्थिति प्राप्त होती है। सिख समाज में स्वर और ताल की शिक्षा प्राप्त कर कीर्त्तन करने का उत्साह व्याप्त हुआ और राग संगीत की प्रतिष्ठा में और अधिक वृद्धि हुई।[6]

सिख धर्म में कीर्त्तन ईश्वर की प्राप्ति के लिए रूचि एवं अभिलाषा जागृत करना है तथा अनुकूल वातावरण उत्पन्न करता है। कीर्त्तन मन को निर्मल बनाकर ईश्वर प्राप्ति के योग्य बनाता है।

किसी भी सत्संग में उपस्थित पूरे समाज ने समवेत रूप में एक साथ कीर्त्तन किया हो कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सिख धर्म ने इस परंपरा का सूत्रपात किया और सत्संग में उपस्थित सभी लोग एक साथ मिलकर कीर्त्तन में भाग लेने के अधिकारी हुए।[7]

हिन्दू धर्म में समवेत कीर्त्तन का अभाव कदाचित् उनकी कठोर वर्ण व्यवस्था के कारण था। शूद्र ना तो मंदिर में प्रवेश करने के अधिकारी थे, न संस्कृत अध्ययन के अधिकारी थे और न उच्च वर्ण की जनता के साथ बैठकर धार्मिक कर्मों में भाग ही लेने के अधिकारी थे। रैदास आदि शूद्र वर्ण के भक्तों ने यदि नाम कीर्त्तन किया भी तो निर्गुणोपासक होकर। सगुणोपासक भक्तों के समुदाय ने उनको प्रतिष्ठा नहीं दी।

सिख धर्म में लगभग सभी संस्कारों में कीर्त्तन का महत्त्व है। जन्म से लेकर मृत्यु तक जितने भी शुभ कार्य होते हैं, कीर्त्तन का आयोजन अनिवार्य है। मृत्यु के बाद मृतक की आत्मा की शांति के लिए भी एकमात्र उपाय कीर्त्तन है।

कीर्त्तन सिख धर्म की भक्ति और पूजा का विशेष अंग है। यह वह ज्योति है, जो कठोर हृदय को पिघला कर ईश्वर के साथ प्रेम संबंध स्थापित करने योग्य बना देती है। गुरू साहब सिख संगत को आदेश देते हुए कहते हैं कि कीर्त्तन द्वारा नाम का स्मरण करते रहो।

गुरू अर्जुन देव जी ने कीर्त्तन को इतना महत्त्व दिया कि उनके अनुसार वह झोपड़ी भी राजमहल से कम सुहावनी नहीं जहां प्रभु के गुणों का गान होता है और वह राजमहल किसी काम का नहीं जिसमें रहनेवाले लोगों ने प्रभु को भुला दिया है।

कीर्त्तन को गुरू अर्जुन देव जी ने भक्ति के सब साधनों से श्रेष्ठ माना है। कलयुग में भक्ति का एक यही प्रमुख साधन है जिसके द्वारा जीवन केवल स्वयं ही इस संसार सागर से पार हो सकता है बल्कि सारे कुल का उद्धार करने की योग्यता प्राप्त कर सकता

है। ऐसा मनुष्य ही प्रभु की दरगाह में मान और इज्जत से प्रविष्ट होता है।

गुरू जी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन कीर्त्तन करना चाहिए परंतु प्रभु का कीर्त्तन गायन करना केवल उन्हीं मनुष्यों को प्राप्त होता है जिन पर प्रभु आप कृपा करते हैं। सो गुरू जी उनलोगों के भाग्य की प्रशंसा करते हैं, जिन्हें प्रभु का गुणगान करना नसीब हुआ है और जिन्होंने संतों की संगत द्वारा प्रभु की निकटता को अनुभव कर लिया हो।

जहां कीर्त्तन करने के उत्तम फल मनुष्य को प्राप्त होते हैं। वहीं कीर्त्तन सुनने के फल भी गुरू साहिब में वर्णित किए हैं आप फरमाते हैं कि जो गुरूमुख हरि का कीर्त्तन सुनते हैं उनके मन से हर प्रकार के वैर विरोध मिट जाते हैं। हरि का कीर्त्तन करनेवाला और सुनने वाला दोनों ही प्रभु के प्रेम पात्र बनते हैं।

प्राचीन समय में गाने वाले को गंधर्व और साज बजाने वाले को किन्नर कहा जाता था। गुरू अर्जुन देव जी ने गुरमति संगीत में गान्धर्व को गावणहारा और किन्नर को वावणहारा कहा है। जिन्हें आज हम गवैया रागी, साजिन्दा या वादक कहते हैं।[8]

यह सत्य है कि श्री गुरू नानक देव जी से पूर्व भक्ति मार्ग के भक्त अपनी वाणी को राग और ताल में रचकर कीर्त्तन रूप में संगीत वाद्यों के साथ गाया करते थे, किन्तु श्री गुरू नानक देव जी ने कीर्त्तन को एक नयी दिशा दी। जिसके द्वारा आध्यात्मिक चिंतन के रहस्य को प्रकट किया। गुरू नानकदेव जी ने कीर्त्तन परंपरा में संगीत के महत्त्व को बताया है। जिसका अनुसरण उनके बाद आए गुरूओं ने यथारूप से किया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सिख धर्म में संगीत का प्रमुख स्थान रहा। सिख धर्म में संगीत पर किसी का वैयक्तिक अधिकार नहीं था, प्रत्युत धर्म से अनुप्राणित होकर संगीत गुरूद्वारों में प्रतिष्ठित किया गया। सिख गुरूओं ने रागबद्ध कीर्त्तन प्रणाली का प्रवर्तन करके संगीत को नवजीवन प्रदान किया उन्होंने संगीत को मोक्ष प्राप्ति और भगवद् प्राप्ति का साधन बनाया। अतः निर्विवाद रूप में यह कहा जा सकता है कि सिख धर्म में संगीत को उच्चतम स्थान प्राप्त रहा है।

संदर्भ सूची :

1. सिंह गुरू निहाल, गुरू नानक जीवनी युग एवं शिक्षाएं, पृ. 78
2. सिंह बल बलदेव, सिख धर्म : संक्षेप जान पहचान, पृ. 15
3. Paintal A.S., The Nature and the place of Music in Sikh Religion and its affinity with Hindustani Music, P. 19
4. भक्ति सूबेदार बघेल सिंह, पृ. 51
5. गुरूवाणी संगीत स. ज्ञान सिंह जी ऐपटाबाद भूमिका सं. ह.
6. पेन्टल डॉ. गीता, पंजाब की संगीत परंपरा, पृ. 12
7. पेन्टल अजीत सिंह, सिख गुरूओं के हरि कीर्त्तन में शास्त्रीय संगीत की परंपरा, पृ. 13
8. गिल महेन्द्र कौर, गुरू अर्जुन देव-जीवन ते वाणी, पृ. 79

संगीत, साहित्य एवं कला की त्रिवेणी : प्रो. सी. एल. दास

डॉ. रीता दास

बिहार में शायद ही कोई ऐसा परिवार हो जहॉ संगीत की परिभाषा यानी गायन, वादन एवं नृत्य, तीनों का एक स्थान पर एक साथ समावेश संभव हुआ हो। पर यह अनहोनी प्रो. सी. एल. दास के परिवार में सत्य साबित हुई है। यह चरितार्थ हुई है कंकड़बाग स्थित **'आसावरी'** नाम के घर में, जहॉ **प्रो. सी. एल. दास** का परिवार स्थित है। यहां संगीत की तीनों विधाएं गायन, वादन एवं नृत्यकला, गंगा, यमुना एवं सरस्वती की भाँति एक साथ मिलती हैं। यह एक ऐसा परिवार है जहां कला के हर रंग बिखरे पड़े हैं। पाँच पुत्रियां और एक पुत्र, सबके सब किसी न किसी कला के माहिर। प्रो. दास के घर में ऐसा प्रतीत होता है मानो सरस्वती एवं लक्ष्मी अपने पूरे मनोयोग से विराजती हैं। यही कारण है कि प्रो. दास के घर में उनके एक पुत्र एवं पाँच पुत्रियों ने साहित्य-संगीत में महारत प्राप्त कर अपने-अपने क्षेत्र में एक विशेष स्थान बनाया है तथा समाज को एक नयी दिशा प्रदान कर रहे हैं।

बिहार के वर्तमान सांस्कृतिक परिवेश को आकार प्रकार देने में कुछ विचारक कलाकारों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। ऐसे विचारक कलाकारों की श्रेणी में एक नाम है प्रो. सी. एल. दास का। प्रो. दास सतरह वर्षों तक कॉमर्स कॉलेज के अंग्रेजी विभाग में विभागाध्यक्ष पद पर कार्यरत रहे। लेकिन इनके व्यक्तित्व का दूसरा पहलू भी है जो अधिक मुखर रहा है, और इनकी पहचान इसी से दूर दूर तक बनी। एक सरोदवादक, एक गुरू, संगीतविद् और समालोचक का समेकित रूप इनका व्यक्तित्व रहा है। समाज में जब जिस पक्ष की आवश्यकता पड़ी, इन्होंने खुले दिल से योगदान दिया। केवल संगीत की साधना और प्रदर्शन तक ही इनका व्यक्तित्व सीमित नहीं रहा, बल्कि कला और कलाकार के सामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव और दायित्व के प्रति भी सजग रहे। साथ ही कला सचेतक के रूप में आरंभ से ही सक्रिय रहे। बिहार के समाचार पत्रों में शास्त्रीय-संगीत कार्यक्रमों के समीक्षा की शुरूआत भी इन्होने सन् 1960 के दशक में ही तत्कालीन अंग्रेजी-हिन्दी दैनिक *इण्डियन नेशन* एव *आर्यावर्त* से की थी, वह आज भी जारी है और '*द हिन्दू*' के कला संस्कृति के पन्नों पर आज भी देखा जा सकता है।

जन्म -बिहार स्थित मधुबनी जिले के अन्हड़ाठाढ़ी गाँव के मूल निवासी प्रो. सी. एल. दास का जन्म 4 जनवरी 1934 ई0 को पूर्वी नेपाल तराई के राजबिराज के निकट गढ़िया नामक गाँव में हुआ। पिता श्री जयनारायण दास जमींदार थे और कलाप्रेमी भी। अतः सन् 1925 ई में ही उन्होंने आलम फलूट, समस्तीपुर, दरभंगा से हारमोनियम एवं तानपूरा खरीदा था और शास्त्रीय-गायन का अभ्यास भी करते थे। साथ ही कई कलाकारों का घर पर आना-जाना भी लगा रहता था। अतः संगीत के प्रति रूचि प्रो. दास को बचपन से थी। प्रो. दास बचपन में ही घर में रखे

अध्यक्ष, संगीत विभाग, जे.डी. वीमेन्स कॉलेज, पटना

हारमोनियम, तबला, तानपूरा आदि से परिचित थे। शास्त्रीय संगीत सुनने और सीखने की जिज्ञासा बचपन से थी। पटना में रहते हुए कॉलेज के दिनों में प्रो. दास ने उ. अलाउद्दीन खाँ का सरोद वादन रेडियो पर सुना तो, सरोद सीखने की इच्छा ने जैसे जिद पकड़ ली और यह इच्छा तब पूरी हुई जब 21 वर्ष की आयु में बी. एस. कॉलेज, दानापुर में व्याख्याता के रूप में ज्वाइन किया। उ. अलाउददीन खाँ को गुरू मानकर सरोद सीखना आरंभ किया। इसी बीच कॉमर्स कॉलेज ज्वाइन किया। फिर अलाउददीन बाबा की अनुमति पर मैहर, मध्य प्रदेश गए और फिर इन्हें बाबा का आशीर्वाद मिला। इस प्रकार मैहर घराने की नींव को बिहार में लाने का श्रेय प्रो. दास को ही है।

वादन-विशेषता - एक सरोद वादक कलाकार के रूप में इन्होंने राज्य के कई शहारों में अपना सरोद वादन प्रस्तुत किया है। सुरीला आलाप और स्वर विस्तार और सुन्दर गतें और गतकारी इनके वादन की विशेषताएं हैं। वाद्यवादन में स्पीड की अहमियत तो रही है, पर इन्होंने स्वर के सुरीलेपन पर अधिक ध्यान दिया है। 50 के दशक में बिहार में शास्त्रीय संगीत समाज के लिए एक विशेष वर्ग तक सीमित था। इन्होने महसूस किया कि मात्र संगीत की साधना ही पर्याप्त नहीं। बल्कि सुनने-समझने के लिए एक प्रबुद्ध श्रोता वर्ग को तैयार भी करने की आवश्यकता है। इसी विचार से प्रेरित होकर प्रो. दास ने अपने कुछ संगीतप्रेमी मित्र और परिचितों के साथ मिलकर शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रम आयोजित किए, जिसका उद्देश्य सुशिक्षित सुसंस्कृत वर्ग को शास्त्रीय संगीत में लाना था।

बिहार में समीक्षा-लेखन की शुरूआत - इन्होंने अपने कुछ मित्रें के साथ मिलकर '*नव संगीत*' नामक संस्था बनायी जिसमें पं रविशंकर, उ. अमीर खाँ, उ. बहादुर खाँ, उ. गुलाम मुस्तफा खाँ, अशफाक हुसैन खाँ आदि कलाकारों का कार्यक्रम आयोजित किया। उन्होंने कॉमर्स कॉलेज में शास्त्रीय संगीत समारोह का आयोजन किया, ताकि युवा पीढ़ी इस कला को सुने, तथा इसकी गहराई को समझे। इस प्रयास में ये सफल भी रहे। इन्होने सर्वप्रथम तत्कालीन दैनिक समाचार-पत्रें 'इण्डियन नेशन' तथा 'आर्यावर्त' के सम्पादकों से अपने दैनिक समाचार-पत्रें में समीक्षात्मक आलेख के लिए स्थान देने के विषय में बात की। वे प्रो. दास की बातों से सहमत हो गए और फिर इन्होंने दोनों समाचार-पत्रें में शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रमों की संगीत-समीक्षा लिखना आरंभ किया। इससे पूर्व दैनिक समाचार-पत्रें में संगीत-जगत की कोई खबरें नहीं छपती थीं। प्रो. दास ने हाथरस, उत्तर प्रदेश से प्रकाशित पत्रिका '*संगीत*' में **गगन-संगीत** कॉलम के अन्तर्गत आकाशवाणी संगीत कार्यक्रम का समीक्षात्मक आलेख लिखा, जो काफी लोकप्रिय रहा। प्रो. दास द्वारा लिखित समीक्षात्मक आलेख इतने चर्चित हुए कि कार्यक्रम से पूर्व कलाकार इन्हें अपना कार्यक्रम सुनने का आग्रह करते एवं इनके आलेख का इन्तजार करते। इन आलेखों से दिल्ली वि.वि., खैरागढ वि.वि. के शोधार्थी आज भी लाभान्वित हो रहे हैं।

एक सफल गुरू - कॉमर्स कॉलेज में अंग्रेजी साहित्य का अध्यापन कार्य तथा लेखन कार्य की व्यस्तताओं के बीच प्रो. दास ने गुरू धर्म का निर्वाह भी बखूबी किया। इनकी पुत्री एवं शिष्या **रीता दास** देश की तीसरी तथा बिहार की एकमात्र कुशल सरोदवादिका हैं, जिन्होंने मुम्बई, दिल्ली, ग्वालियर, शिमोगा, कोलकत्ता, पटियाला, आगरा आदि के साथ-साथ राज्य के सभी प्रमुख महोत्सवों में अपना सरोद वादन प्रस्तुत कर चुकी हैं तथा ये दिल्ली आकाशवाणी तथा दूरदर्शन दिल्ली की कलाकार है। सम्प्रति ये जे. डी. वीमेंन्स कॉलेज, पटना में संगीत-विभाग की विभागाध्यक्ष हैं।

इनके अतिरिक्त दरभंगा स्थित प्रख्यात चिकित्सक **डा. एन.एन. लाभ** इनके वरीष्ठतम शिष्य है तथा आकाशवाणी, पटना के ग्रेडेड कलाकार हैं। ये एक सुंरीले सरोद वादक हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने **अमित कुमार को सरोद** (दिल्ली), **संजय कुमार, पटना तथा कुमार रंजन , दिल्ली को गिटार , अमिताभ चौधरी** को सितार-वादन (पटना), आदि की शिक्षा दी है।

एम.ए. का सिलेबस तैयार किया - इन्होंने कामेश्वर सिंह संस्कृत वि. वि. दरभंगा, मिथिला वि. वि., दरभंगा, बी. एन. मंडल वि. वि., मधेपुरा तथा मगध वि. वि.,बोधगया के संगीत विषय के एम. ए. का सिलेबस भी बनाया है। तथा इन विश्व - विद्यालयों में ये वर्षों परीक्षक भी रहे हैं।

संगीत के जीवन्त-इनसाइक्लोपीडिया - पूरे देश के संगीत शोधार्थी चाहे वे इन्दिराकला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ के हों, दिल्ली विश्वविद्यालय के हों, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, के हों या फिर लखनऊ , इलाहाबाद के, सभी इनसे आकर अपने शोध-कार्य में सहायता लेते हैं। इन्हें संगीत एवं साहित्य संबंधी विषयों को पढाते समय कभी किसी किताब को देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यही कारण है कि संगीत क्षेत्र के लोग इन्हें संगीत-साहित्य का जीवन्त-इनसाइक्लोपीडिया मानते हैं।

ध्रुवपद-विशेषज्ञ - विख्यात भाषाविद् मैक्स मूलर के पोते पीटर मूलर द्वारा बिहार के ध्रुपद-गायन-शैली पर तैयार की गयी फिल्म तथा एक फ्रेंच कम्पनी द्वारा बिहार के विख्यात ध्रुपद गायक पंडित रामचतुर मल्लिक के एल. पी. रिकॉर्ड का कवर-स्क्रिप्ट तैयार करने के लिए भी एक ध्रुपद-विशेषज्ञ के रूप में प्रो. दास को ही आमंत्रित किया गया।

ऑडीशन बोर्ड के सदस्य - प्रो. दास पन्द्रह वर्षों तक आकाशवाणी, पटना में शास्त्रीय-संगीत के ऑडीशन बोर्ड के सम्मानित सदस्य रहे। इनके द्वारा चयनित कलाकार आज रेडियों में कार्यरत हैं।

वार्ताकार - इसके अतिरिक्त प्रो. दास अंग्रेजी, हिन्दी एवं मैथिली भाषाओं में आकाशवाणी पटना से संगीतकला एवं कलाकारों से संबंधित विषयों पर वार्ता प्रसारित करते रहे हैं। इन्होंने कई बार शास्त्रीय संगीत तथा लोकसंगीत पर आधारित कार्यक्रमों का संचालन भी किया है।

सम्मान - संगीत के क्षेत्र में इनके अमूल्य योगदान के लिए प्रो. दास को विभिन्न एवॉर्ड तथा सम्मानों से सम्मानित भी किया गया है। जैसे–

(1) संगीत समाज, पटना
(2) कलाकक्ष, पटना
(3) सुर-ताल, पटना
(4) प्रयास, बोकारो
(5) सप्तक, दरभंगा
(6) पं. रामेश्वर पाठक स्मृति सम्मान
(7) काका हाथरसी सम्मान, अहमदाबाद,
(8) आचार्य अभिनवगुप्त सम्मान, दिल्ली आदि।
(9) तक्षशिला एजुकेशनल सोसाइटी, पटना द्वारा सम्मान।

प्रो. दास की प्रकाशित पुस्तकें–

(1) गगन में अनहद।
(2) 'किग ऑफ ध्रुपद : पंडित रामचतुर मल्लिक।
(3) 'हिन्दुस्तानी संगीत के पचास वर्ष'।

गगन में अनहद शीर्षक पुस्तक आकाशवाणी, दिल्ली से प्रसारित अखिल भातीय संगीत काग्रक्रमों के पिछले पचास वर्षों की विस्तृत विवरणी है। प्रो. दास की दूसरी पुस्तक ध्रुपद गायक पंडित रामचतुर मल्लिक की जीवनी है। 'हिन्दुस्तानी संगीत के पचास वर्ष' शीर्षक पुस्तक प्रो. दास की सबसे बड़ी रचना है।

फोटोग्राफी - प्रो. दास के व्यक्तित्व की विविधता यहीं समाप्त नहीं होती। फोटोग्राफी से इनका विशेष लगाव रहा है। सन् 50 के दशक से इन्होंने अपने विविध प्रकार के कैमरों से पटना शहर तथा अपने परिवारजनों, कलाकारों, मित्रों एवं पटना-वासियों के जीवन के इर्द गिर्द की अनेकानेक तस्वीरें खींची तथा मुम्बई से तैयार कर मँगवाया। ये सभी तस्वीरें आज भी इनके पास मौजूद हैं, जो पटना के प्राचीन एवं नवीन रूप को बड़े ही कलात्मक ढंग से दर्शाती है।

पाश्चात्य शास्त्रीय-संगीत - प्रो. दास को भारतीय संगीत के साथ-साथ पाश्चात्य शास्त्रीय-संगीत से भी विशेष लगाव रहा है। यही कारण है कि इनके संग्रह में शास्त्रीय संगीत संबंधी एल. पी. रिकॉर्ड का दुर्लभ संग्रह है, जिसमें पाश्चात्य शास्त्रीय संगीत के बिटोवेन, मोत्सार्ट, बाख आदि की दुर्लभ कृतियां भी है। इसके साथ ही भारतीय फिल्म संगीत का दुर्लभ संग्रह भी इनके संग्रह में संग्रहित है।

प्रगतिशील विचारक - प्रो. दास मात्र संगीतज्ञ ही नहीं अपितु एक क्रांतिकारी एवं प्रगतिशील विचार के व्यक्ति है। इन्होंने मिथिला के संकुचित सामाजिक परिवेश की परवाह किए बिना सर्वप्रथम अपनी पुत्री रमा दास को शास्त्रीय कथक नृत्य की शिक्षा दिलवायी। बिहार के मैथिल-समाज में उन दिनों कोई लड़की मंच पर नृत्य करे, यह एक अनोखी बात थी। इनकी द्वितीय पुत्री रेखा दास शास्त्रीय गायन विभिन्न कलामंचों से प्रस्तुत कर चुकी हैं। एवं कलात्रयी संगीत एकेडमी का संचालन कर रही हैं। इनकी तृतीय पुत्री रीता दास देश की गिनी-चुनी महिला सरोद-वादकों में से हैं। सुश्री रीना दास एक सितार-वादक के साथ हिन्दुस्तान-टाइम्स में सीनियर रिपोर्टर हैं। सुश्री प्रियंका मनोहर एक कथक नृत्यांगना के साथ-साथ बैंगलोर की कम्पनी में मैनेजर के पद पर कार्यरत हैं। पुत्र दिनेश कुमार दास एक तबला-वादक के साथ बिहार वन-विभाग के अधिकारी हैं।

प्रो. सी. एल. दास का शांत, सरल, स्नेहमय गंभीर एवं उदार प्रकृति का व्यक्तित्व ही इन्हें समाज में प्रतिष्ठित करता है। संगीतज्ञों के इतिहास के विषय में इनसे चर्चा कर कोई भी व्यक्ति ज्ञान एवं आनंद प्राप्त कर सकता है। ऐसे सागर सदृश व्यक्तित्व को पाकर बिहार गौरवान्वित हो रहा है।

हिन्दुस्तानी संगीत में नये रागों का आविष्कार

पंडित ईश्वरचन्द्र

शास्त्रीय संगीत को यदि अच्छी तरह से सुज्ञ श्रोताजनों के दिलो दिमाग में बसाना हो तो नये रागों का सृजन होना भी अति आवश्यक है। जो परंपरागत राग प्रचार में हैं वो तो है ही और वे रंजक एवं सुंदर भी है। रागों में जो सुंदरता है, वह स्वरों की आंतरिक सुंदरता है। कभी रागों की सुंदरता परंपरा द्वारा भी विरासत में मिलती है। परंपरा संगीत को सुन्दर और सृजनशील बनाना है तो संगीत में वैयक्तिक कल्पना एवं नवीन चेतना का संचार करना भी अत्यंत जरूरी है।

अक्सर यह देखा गया है कि परंपरागत राग संगीत में कुछ नवीन प्रयोग करना है तो साधक भयभीत हो जाता है क्योंकि वो सोचता है कि यह प्रयोग श्रोताओं को पसंद आयेगा कि नहीं? सुनकर आलोचना करेंगे तो ऐस अनेकानेक विचार आते हैं, जिनके फलस्वरूप वो चाहे तो भी नवीन प्रयोग नहीं कर पाता है।

शास्त्रानुसार रागों के जो दस लक्षण बताये हैं वो ध्यान में रखकर यदि कोई स्वरावली (सप्तक का सृजन किया जाए कि जिसमें स्वरों की निजी सुंदरता एवं रंजकता हो तो श्रोताजन अवश्य सुनेंगे और सराहेंगे। नवीन राग सुनाने के पहले इसके तह तक पहुंचना साधक के लिए जरूरी है। राग रूचिकर है या नहीं इसका प्रमाण श्रोताजन है। सुनने के बाद आलोचना होती है तो होने दो क्योंकि आलोचना से साधक अपनी रचना में और सुधार भी कर सकता है और सफलता तक पहुंच सकता है। नये रागों का सृजन क्यों करना चाहिए? सृजनशील सांगीतिक परिवर्तन ये समय की एवं सुधी श्रोताजनों की मांग है और वैसे भी परिवर्तन ये जगत का क्रम है। सभी चीजें अनित्य है। नित्य का आभास होता है यदि कोई साधक अपनी साधना के बाद कोई रंजक स्वराकृति का निर्माण करता है और वह प्रयोग करने में सफल होता है तो वैसे प्रयोग जारी रखना चाहिए जिनके फलस्वरूप जगत को एक नवीन सांगीतिक रचना मिल सकती है जो कि पहले कभी अस्तित्व में न थी।

अभी हम नये रागों का निर्माण किस प्रकार से किया जाता है इसके बारे में सोचेंगे। नये रागों का निर्माण दो तरीके से किया जाता है-1. परंपरागत रागों में कुछ फेरबदल करने से नवीन सप्तक मिल सकता है जैसे कि यमन, भैरवी, काफी इत्यादि रागों को सुनने का श्रोताओं को कई सालों से आदत हैं। प्रचलित रागों की स्वराकृति श्रोताओं के दिलो दिमाग पर बड़ी गहराई से अंकित हो गई है इसलिए परंपरागत रागों में कुछ बदलकर करने से जो सप्तक मिलेगा इसमें श्रोताओं को कुछ नयापन और परंपरागत रागों का जो संस्कार मानसपटल पर संस्करित हुए हैं ऐसे दो प्रकार के रसास्वाद मिल सकते हैं।

उदाहरणार्थ जैसे कि राग यमन में धैवत वर्ज्य किया जाए तो 'नि रे ग म प नि सां' इस प्रकार से एक षाड़व राग का निर्माण हुआ। यहां 'नि रे ग म प' तक यमन ही है और यमन सुनने की श्रोताओं

अध्यक्ष, प्रदर्शनकला विभाग, एम0एस0 विश्वविद्यालय, बड़ौदा (गुजरात)

को आदत है और 'प नि सां' शंकरा, बिहाग आदि रागों में लिया जाता है तो यह भी सुनने की आदत है मतलब कि इस प्रकार से मूल रागों में कुछ फेर बदल करने से जो सप्तक मिलता है वह श्रोताओं को अवश्य पसंद आयेगा। जो नवीन स्वरावली निर्माण होती है इसका राग-नामकरण भी साधक अपनी इच्छा मुताबिक कर सकता है। यमन के उदाहरण के समान काफी, भैरवी, बिलावल और सभी अन्य प्रचलित रागों में यह प्रयोग हो सकता है।

मेरी मान्यतानुसार मूल रागों में कुछ फेरबदल और स्वरों को शुद्ध, विकृत करने से ही नये रागों का निर्माण किया गया होगा। जो नवीन राग बनता है वह बारबार गाया बजाया जाये तो इसमें रस, भाव एवं सौन्दर्य की निष्पति हो सकती है और सुज्ञ श्रोताजन भी ऐसे राग सुनने के आदि हो जायेंगे। नवीन निर्माण किये गये रागों को किस थाट में बिठाया जाए और इसे शास्त्रोक्त मान्यता दी जाए वह रचनाकार स्वरों के शुद्ध विकृत भेद से यथायोग्य थाट में रख सकता है। यदि थाट में नहीं बैठ सकता है तो रागांग पद्धति में विभाजन कर सकता है।

नवीन रागों का निर्माण दूसरे प्रकार से भी हो सकता है, वह है मूर्छना पद्धति।

एक संपूर्ण राग में छह राग मूर्छित अवस्था में होते हैं। षाडव राग में पांच और औड़व राग में चार राग मूर्छित अवस्था में मौजूद होते हैं। मूर्छित अवस्था में जो राग मिलते हैं इसमें कई राग प्रचलित भी हो सकते हैं और कई राग नवीन होते हैं।

उदाहरणार्थ राग हंसध्वनि में 'रे' को 'सा' माना जाए तो ऋषभ से ऋषभ की मूर्च्छना में गोरख कल्यान मिलता है। गांधार से गांधार की मूर्छना से 'सा ग प ध नि सा' स्वराकृति मिलती है जो नया सप्तक है जिनको मैंने औडव भैरवी नाम दिया है। पंचम से पंचम तक मूर्छना करने से नया सप्तक बनता है, जो प्रचार में है। जिनके स्वर 'सा ग म प ध सां' है। निषाद से निषाद की मूर्छना से एक और नया सप्तक मिलता है। जिनके स्वर 'सा रे ग म ध सां' होते हैं। जिसका शिव भैरवी ऐसा नाम मैंने दिया है।

यह तो सिर्फ हंसध्वनि की मूर्च्छना देखी, इस प्रकार सभी प्रचलित रागों की मूर्छना हो सकती है। मूल राग में आरोह और अवरोह के स्वरों को क्रमानुसार षडज बनाकर गाया जाए तो असंख्य प्रकार के नये राग बनेंगे। इस प्रक्रिया में दो प्रकार के रागों का निर्माण हो सकता है- 1. स्वर वैचित्र्य सप्तक और 2. रंजनाकर्ता स्वराकृति (सप्तक) नवीन राग गाने से और सुनाने से पता चलता है कि यह रंजक है या नहीं। यदि श्रोता नवीन रागों को रूचिकर मानता है तो अवश्य ऐसे राग भारतीय शास्त्रीय संगीत में अपना एक अनोखा स्थान ग्रहण करेंगे और संगीत जगत के लिए भी ऐसा प्रयोग निःशंक उपकारक साबित होगा।

मानवीय चेतना की कुँजी संगीत चिकित्सा प्रणाली

डा. गिरिधर कु. श्रीवास्तव,'पुटीश'

संगीत आत्मा की संवेदनशील भावुकता भरी लयात्मक वाणी है, जो चेतना के एक विशिष्ट आयाम को अभिव्यक्त कर युग-विशेष, समाज-विशेष या व्यक्ति-विशेष की भावनाओं को अभिव्यक्त करती है। संगीत विश्वव्यापी विराट चेतना का ध्वन्यात्मक स्पन्दन है। संगीत हमारी प्रज्ञा को एक क्षण के लिए सांसारिक यथार्थ के धरातल से उठाकर कल्पना के समृद्ध भावलोक में अग्रसर करती है। प्राचीन काल से लेकर अद्यावधि भारत में अनेक कलाकारों एवं महान संगीत शास्त्रकारों ने जन्म लिया। संगीत ग्रंथ लेखन के क्षेत्र में अनेक बार उतार-चढ़ाव का क्रम आया, किन्तु हमारी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, आदर्श की कठोर भूमि पर अविचल भाव से खड़ी, और भारतीय संगीत का वैशिष्ट्य आज भी उसके सनातन स्वरूप में है।

21 वीं शताब्दी में पदार्पण से इस युग में अत्यन्त तीव्रगामी, भौतिकवादी एवम् विनाशकारी नवीन उपकरण भी निर्माणाधीन है, उनका ही आधिपत्य रहेगा। जनसंख्या वृद्धि के कारण गरीबी की सीमा-रेखा भी बढ़ती जा रही है। रोजी-रोटी की दौड़-धूप में मानव सर्वथा जीवन-मूल्यों से दूर होता जा रहा है। ऑडियो-वीडियो की बढती सुविधाओं के कारण आज का विद्यार्थी घण्टों टेलिविजन के सामने बैठकर विभिन्न चैनलों के माध्यम से भरपूर फिल्में देखता हैं। आज के मशीनी युग में जहां मानव ने भौतिक प्रगति में पूर्ण सफलता और सम्पन्नता प्राप्त कर ली है, वहीं दूसरी तरफ मानवीय मूल्यों एवं मानवता-वाद को पैरों तले कुचल डाला है। आज का मानव अपने-आपको भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धता के कारण 'सम्पूर्ण' अनुभव करता है, वहीं वह वास्तव में नितांत निरपेक्ष, व्यर्थ एवं मशीनी जीवन जीता है। उसके पास समय का नितान्त अभाव है और इसीलिये वह शीघ्र ही थकान भी अनुभव करता है। वह अधिक से अधिक पाने की लालसा/होड़ में धड़ाम से नीचे भी गिरता है। कलाओं में संगीत की अभिव्यक्ति एक सशक्त, सृजनशील एवं तात्विक भूमिका निभाती है। हमारा संगीत प्राणवान है और इसके प्राणों में जीवन्त एवं नवीन उद्भावनाओं का संचार है। यह संस्कृति की धरोहर ही नही बल्कि आधुनिक भौतिकवादी युग में प्रेम एवं सद्भावना का संदेश भी है।[1]

व्यस्त दिनचर्या एवं जीवन की समस्याओं में आज का मानव अपनी मानसिक शांति खो बैठा है और इस मानसिक अशांति और अनेकानेक चिंताओं से ग्रस्त त्रस्त मानव मानसिक और शारीरिक रूप से अस्वस्थ या कहिए लगभग अर्द्ध विक्षिप्त-सा होता जा रहा है। मानसिक अशांति एवं अस्थिरता के कारण उत्पन्न तनाव ने विश्व के मानव समुदाय को अनेक शारीरिक व्याधियों से ग्रसित कर रखा है। यह स्थिति दिनों-दिन उग्र रूप धारण करती जा रही है। जिससे मानव जीवन असहज, असंतुलित और अस्वस्थ होता जा रहा है। हालाँकि आधुनिक चिकित्सा प्रणाली और आधुनिक औषधियाँ तकनीकी रूप से तो बहुत उन्नत प्रतीत होती हैं और ये रोग का नियंत्रण भी कर रही है परन्तु रोगों को जड़ से मिटाने में अक्षम हैं साथ ही ये आधुनिक औषधियाँ

संगीत विभाग, रमेश झा महिला कॉलेज, सहरसा

शरीर पर अपने कुप्रभाव एवं भयंकर अतिरिक्त प्रभाव भी उत्पन्न करती है।[2]

संगीत को मनुष्य के जीवन को प्रभावित करने वाली एक बड़ी ताकत के रुप में देखा गया है। भाषा के विकास से पहले संगीत के माध्यम से ही संप्रेषण होता था। संगीत चाहे भारतीय हो, पाश्चात्य हो, देशी हो अथवा शास्त्रीय यह एक ऐसी विद्या है, जो किसी में भी जान फूंकने का असर रखती है। इसमें लौकिक तथा अलौकिक दोनों आनन्द मिलते हैं, यह मानव को शान्ति देने वाली कला है। यह श्रोताओं से सीधा सम्बन्ध रखती है। संगीत का मूल आधार नाद् है। नाद को परमतत्व का अंश माना गया है। नाद् उत्पत्ति में पंच महाभूत शक्ति होती है। मनुष्य का शरीर भी पाँच तत्वों से मिलकर बना होता है। और यही तत्व जीवन के आधार माने गए हैं। वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध कर दिया है, कि उक्त पाँचो तत्वों में संगीत प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। प्राणी मात्र की उत्पति संगीतमय वातावरण एवं संगीतमय तत्वों से परिपूर्ण होती है। स्वर आत्मा का नाद् है और आत्मा परमात्मा का स्वरुप। आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से माना जाता है, तथा स्वर का सम्बन्ध आत्मा से माना गया है। इसलिए नाद् का मानव मन मस्तिष्क और शरीर के अंगो पर शीघ्र प्रभाव पड़ता है। संगीत के मूलाधार स्वर व लय प्रकृति में व्याप्त है। जहॉ चेतना है, वहॉ गति है, वहीं स्वर भी है, ये गुण गुप्त होते है। इन्हें संगीत व्यक्त बनाता है, प्रकट करता है। भाव को आकार देने की अलौकिक शक्ति स्वरों में है, संगीत में स्वरों की दिव्य शक्ति का उपयोग किया जाता है। जिसका सम्बन्ध मन व शरीर के साथ ही आत्मा से भी है। मनुष्य के अन्तरंग तक पहुॅचने की इस शक्ति से आत्माभिव्यक्ति को आनन्द मिलता है।[3]

संगीत परमात्मा के आशीर्वाद रुप में मनुष्य को मिला है। जिसका आनन्द हर कोई प्राप्त कर सकता है। इसे मनोभावों की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम माना गया है। यह मानव मन के भावों को अभिव्यक्त करता है, तथा मनुष्य को तनाव मुक्त करके संतुलित व्यवहार की ओर प्रेरित करता है। इससे मानव भौतिक बन्धनों से दूर होकर शांति व आनन्द का अनुभव करता है। भारतीय संगीत में सृजनात्मकता और कल्पना शक्ति का प्रचुर महत्व है। इसी के आधार पर कलाकार अपनी रचना को सौंन्दर्यात्मक गुणों से सुसज्जित करके श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इसमें आन्तरिक भावों के दिग्दर्शन के लिए कलाकारों को काफी साधना करनी पड़ती है। इसमें हमारे मन को बदलने की शक्ति होती है। जिसमें हमारी कल्पना, सृजनशक्ति तथा रचनात्मकता बढ़ती है, इससे व्यक्ति का एकाकीपन भी दूर होता है, यह हमारे मानसिक संतुलन के लिए भी लाभकारी है, जिससे व्यक्ति अपनी कल्पनाशीलता तथा रचनात्मक शक्ति को अभिव्यक्त कर सकता है।

संगीत से मन का अंतर्सम्बन्ध ही नहीं अपितु शारीरिक क्रियाओं का संबंध भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है, संगीत शारीरिक सन्तुलन को प्रभावित करता है, मांसपेसियों की शक्ति को बढाता है,। श्वास की क्रिया को गति प्रदान करता है तथा रक्तचाप की सार्थकता संगीत से सम्पन्न होती है। संगीत के अभ्यास और श्रवण काल दोनों में मन को विश्रान्ति ही नही, आत्म प्रसाद भी प्राप्त होता है। इसलिए संगीत साधना को मानसिक तनावों के निवारण की अचूक औषधि भी कहते हैं, गायन को ''यौगिक साधन'' भी कहते है, गाते समय मुँह, जीभ और होंठ के साथ ही आवाज नाभि से खिंचती है और ब्रह्म रन्ध्र तक पहुँचती है, इस तरह शरीर का भीतरी व्यायाम हो जाता है। गायन से शरीर और मस्तिष्क की नाड़ियों का शोधन होता है, ज्ञान तन्तु सजग होते है। द्रुत मध्य एवं बिलम्बित लय में गाये जाने से वक्षः स्थल और हृदय की रक्त वाहिनी धमनियों पर प्रभाव पड़ता है। गाने से नाड़ी संस्थानों से लहरें उठती है। इसी प्रकार की तरंगावली शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभकारी होती है, गाने से फेफड़े और स्वर यंत्र मजबूत होते हैं, संगीत का अभ्यास करना लाभकारी ही नहीं, श्रवण करना भी उतना ही प्राणप्रद होता है, सुनने से स्फूर्ति, चेतनता और रोमांच होता है। यह श्रोता को सांसारिक बंधनों से मुक्त करके आत्मिक सुख प्रदान करती है, इसी आत्मिक सुख में रोग निवारण की शक्ति है, ऐसा अनुभव किया गया है कि संगीत से

मनुष्य में एक प्रकार की विद्युत धारा जैसा प्रवाह उत्पन्न होता है, यही प्रवाह मनुष्य को निरोग करने में सहायता प्रदान करता है।

संगीत प्रदर्शन द्वारा आजकल के परीक्षणों में अनेक ऐसी चमत्कार पूर्ण बातें मिली है, जिनके द्वारा अनुसंधानकर्ताओं को अच्छी खासी सफलता प्राप्त हुई है। दैनिक दिनचर्या में भारतीय शास्त्रीय संगीत को सुना जाए तो अनिद्रा तथा अनेक मानसिक तनाव जन्य रोगों से भी छुटकारा पाया जा सकता है, शास्त्रीय संगीत में प्रयोग की जाने वाली मीड़युक्त कम्पोजीशन माइग्रेन जैसे रोग को भी कम करने में सहायक होते हैं, संगीत का प्रभाव मस्तिष्क तंत्र की उन माँसपेसियों पर बहुत अनुकूल पड़ता है, जिनमें भावनाएँ भरी रहती है, ये मांसपेसियाँ संगीत लहरियों के स्पंदन द्वारा निष्क्रियता की अवस्था से निकलकर सक्रिय हो जाता है, फलतः तनाव कम हो जाता है। संगीत तरंगों का प्रभाव जड़, चेतन पर समान रुप से पड़ता है।[4]

स्वस्थ रहने के लिए शरीर का तनाव मुक्त रहना अत्यंत आवश्यक है। जब तक हमारी शारीरिक और मानसिक स्थिति तनाव मुक्त नहीं रहती। तब तक हमारा पूर्ण रूप से स्वस्थ रहना असंभव है और तनाव से मुक्ति मिलने का एक ही सहज सरल उपाय है-संगीत, संगीत का मानव शरीर पर गहरा मानसिक प्रभाव पड़ता है। संगीत मानव के लिए प्राकृतिक रूप से तनाव नियंत्रक गुण की भाँति उपयोगी है। गायन, वादन, नृत्य ये तीनों विद्याएँ मिलकर संगीत कहलाती हैं। शास्त्रीय संगीत में अनेक राग होते हैं। मनुष्य के चित्त का रंजन करने वाले या मानव मन का मनोरंजन करने वाली स्वरावली को राग कहते हैं। शास्त्रीय संगीत के विभिन्न रागों में अलग-अलग आकर्षण होता हैं। मनोरंजन के साथ-साथ आजकल इन रागों का प्रयोग इनके विशिष्ट गुणों के कारण चिकित्सकीय कार्य में होने लगा है। भारतीय शास्त्रीय संगीत के विभिन्न रागों द्वारा अनेक रोगों का उपचार संभव है। कला और विज्ञान का समन्वय है-"संगीत चिकित्सा"। प्राचीन भारतीय ऋषियों-मुनियों ने भी रोग निवारण में संगीत के महत्व को स्वीकारा था। विश्व के प्रथम ग्रंथ ऋग्वेद में संगीत का उल्लेख मिलता है। सामवेद, के मंत्रों के गायन द्वारा असाध्य रोगों का उपचार भी किया जाता था। धीरे-धीरे आज के वैज्ञानिक भी इस सत्य को स्वीकारने लगे हैं। मनोवैज्ञानिकों का ऐसा मत है कि संगीत में, अच्छी-अच्छी औषधियों के मुकाबले रोग निरोधक गुण अधिक हैं। इस पद्धति में व्यक्ति रोग परीक्षण के पश्चात उचित चिकित्सकीय संगीत, रोगी को सुनाकर उसका उपचार करना हीं 'संगीत चिकित्सा' कहलाता है।[5]

स्वरों में वह अद्‌भुत शक्ति निहित होती है, उनके शुद्ध रुप में मुखरित होने पर प्रकृति को प्रभावित करके आश्चर्य जनक परिस्थिति उत्पन्न कर देती है। संगीत आत्मा पर सीधा प्रभाव डालता है। आत्म सन्तुष्टि से जीवन-शक्ति उत्पन्न होती है, तथा मन शान्त हो जाता है। मानव जाति ने अपने अन्तर्मन के भावों एवं अभिव्यक्तियों को स्वर के माध्यम से व्यक्त करके संगीत को परमोत्कर्ष पर पहुँचाया है, जिसके फलस्वरुप संगीत में एक प्रभावपूर्ण शक्ति संचालित होती रहती है, इससे पीड़ित हृदय को शान्ति और सन्तोष मिलता है। मनुष्य में सृजन शक्ति का विकास होता है, एवं आत्मिक प्रफुल्लता मिलती है। संगीत में शरीर, मन और आत्मा तीनों को बलवान करने वाले तत्व परिपूर्ण मात्रा में विद्यमान है, यह आत्मा की उन्नति का सबसे अच्छा उपाय है। मानसिक रुप से अस्वस्थ रोगियों के इलाज हेतु मनोवैज्ञानिकों एवं मनोचिकित्सकों ने अनेक विधियां प्रयोग की है जैसे-सम्मोहन विधि, मनोविश्लेषण विधि, समूह चिकित्सा विधि, के अलावा सहायक विधियों के रुप में जैसे-कला चिकित्सा, संगीत चिकित्सा, खेल चिकित्सा, नृत्य चिकित्सा आदि। संगीत चिकित्सा विधि में गायन तथा वादन दोनों का ही प्रयोग होता है। संगीत चिकित्सा विधि को समूह में प्रयोग कर सकते हैं। अतः एक ही समय में कई रोगियों का इलाज हो जाता है, जिससे समय व मेहनत दोनों बचते है।

संगीत व्यक्ति के अंदर दबे भावों को बाहर उभारता है। संगीत के असर से श्रोता भाव विभोर हो उठता है तथा अश्रु में डूब जाता है। संगीत के स्वर मनुष्य के अचेतन मन को छू लेते है तथा अचेतन मन को उस स्तर तक प्रभावित कर जाते है जहां तक शब्द नहीं पहुच सकते। संगीत चिकित्सा

के क्षेत्र में अनेक अध्ययन तथा प्रयोग हो रहे हैं। अमेरिका में **Music Research Foundation** संस्था भी अनेक प्रयोग कर रही है तथा यह अध्ययन किया जा रहा है कि मानव का मस्तिष्क किस हद तक संगीत से प्रभावित होता है तथा विभिन्न प्रकार के मानसिक रोगों में संगीत कहां तक उपयोगी हो रहा है।

संगीत चिकित्सा विधि संवेगात्मक असंतुलन में काफी सहायक होती है। **'हरमेन'** ने इस संबंध में अपना विचार लिखा हैः संगीत द्वारा व्यक्तियों का ध्यान आसानी से आकर्षित किया जा सकता है। संगीत व्यक्ति के मूड को बदल सकता है तथा संगीत व्यक्ति के अंदर के तनावों को कम करता है। चिकित्सा की अनेकानेक पद्धतियाँ है, अब अस्पतालों में चिकित्सा का एक माध्यम संगीत मान लिया गया है। अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, जापान, फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन, इटली, आदि देशों में अस्पतालों में एक विद्या के अनुरुप संगीत के विभिन्न स्तर के रिकार्ड बनाकर उपचार में सहायता ली जाती है। मानसिक अस्पतालों में तो इस प्रयोग को अब एक प्रकार से अनिवार्य ही माना जाने लगा है।[6]

संगीत के संबंध में यदि आधुनिक यंत्रों द्वारा गंभीरता पूर्वक शोध की जाय तो उससे प्रस्तुत समय के अगणित शारीरिक मानसिक रुग्नता को दूर किया और आरोग्य के अभिवर्धन में महत्वपूर्ण सहायता ली जा सकती है। इस प्रकार के प्रयोग यूरोप एवं अमेरिका के वैज्ञानिक भी कर रहे है और उन्हें आशाजनक सफलता भी मिली है। मानसिक व्याधियों से ग्रस्त लोगों पर संगीत से आश्चर्यजनक लाभकारी प्रभाव होने का निष्कर्ष सामने आया हैं। सोवियत रूस के क्रीमिया स्वास्थ्य केन्द्र ने चिकित्सा में औषधि उपचार के साथ-साथ संगीत को भी एक उपाय माना है। वहां के अस्पतालों में मूर्धन्य वैज्ञानिक **प्रो. एस. वी. फैकफ** ने संगीत के प्रभाव का अन्वेषण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि उस उपचार का प्रभाव नाड़ी संस्थान की विकृतियों पर और मनोविकारों पर बहुत ही संतोषजनक मात्रा में होता है। **डा. वाल्टर एच. वालेस** के अनुसार जुकाम, यकृतशोव, रक्तचाप जैसे रोगों की स्थिति में उपयोगी संगीत का अच्छा प्रभाव होता है। प. जर्मनी के मनःरोग चिकित्सक **डा. वाल्टर क्यूग** का कथन है कि पागलपन, हिस्टीरिया, अनमयस्कता, मेलेनकोलिया जैसे मनोविकारों के निवारण में संगीत को सफल उपचार के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

भारतवर्ष में शास्त्रीय संगीत की शक्ति और महत्ता के संबंध में इतिहास के पन्ने भरे पड़े है अब उस दिशा में नई खोजें की जाने की आवश्यकता है। **अमेरिका** की प्रमुख **कला पत्रिका 'दि अदर ईस्ट विलेज'** ने भारतीय संगीत की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा है कि मनुष्य की भीतरी सत्ता को राहत देने और तरंगित करने की भारतीय संगीत के ध्वनि प्रवाह में अपने ढंग की अनोखी क्षमता है। उसकी उपयोगिता और सम्मोहिनी शक्ति अपने आप में विलक्षण और अद्वितीय है जिस पर किसी भी देश के किसी भी व्यक्ति को विरोध नहीं । संगीत के संदर्भ में **अन्नामलाई विश्वविद्यालय** के मूर्धन्य वनस्पतिशास्त्री **डा. टी. एन. सिंह** ने अपने सहयोगियों के साथ वनस्पति एवं प्राणियों पर उल्लेखनीय परीक्षण किये। उन्होंने अपने प्रयोगों से यह सिद्ध किया है कि संगीत की मधुर ध्वनि तरंगों द्वारा पेड़ पौधों की फसलों की उन्नति में आशाजनक सहायता मिल सकती है। संगीत एक प्रभावी शक्ति सिद्ध हो सकती है। जिस प्रकार प्रकृति और प्राणी जगत में प्रकाश और गर्मी का प्रभाव होता है। उससे उनके शरीर बढ़ते, पुष्ट और स्वस्थ्य होते है। उसी प्रकार ध्वनि में भी तापीय और प्रकाशीय उर्जा होती है और वह प्राणियों के विकास में इतना महत्वपूर्ण स्थान रखती जितना कि पोषक तत्व और जल। रोग निवारण में संगीत की विशिष्ट भूमिका होती है। जोधपुर मेडिकल कॉलेज के चिकित्सकों ने भी रोगियों पर संगीत चिकित्सा के प्रभाव का अध्ययन किया है। उनके अनुसार संगीत के मधुर स्वभाव के कारण रोगी अपनी चिंताएं तथा दुःख भूल जाते हैं तथा जल्दी ठीक होते हैं।

बंगलौर में **'पवानी'** नामक एक संस्था है जो संगीत का मनुष्य पर मनोवैज्ञानिक तथा जैववैज्ञानिक रूप से पड़ने वाले प्रभावों पर अनुसंधान कर रही है। अब तक जो निष्कर्ष सामने आये है उसके अनुसार संगीत की अभूतपूर्व आरोग्यकर क्षमता की पुष्टि हुई

है। चयापचय, बायोरिदम, एवं न्यूरोकेमिकल्स में संगीत प्रवाह महत्वपूर्ण परिवर्तन लाता है। जब मृदुध्वनियों के प्रभाव से मस्तिष्क शांतिमय स्थिति में पहुँचता है तो रक्त शर्करा का स्तर कम हो जाता है और त्वचा के तापमान में उतार-चढाव आता है। इसी तरह भिन्न-भिन्न प्रकार के राग अलग-अलग भावों को उत्पन्न करते है तथा उनसे प्रसारित होनेवाली उर्जा श्रोताओं के तंत्रिका-तंत्र को प्रभावित करती है। इसका विस्मयकारी परिणाम रोगशमन के रूप में परिलक्षित होता है। चिकित्सा विज्ञानियों का कहना है कि संगीत द्वारा एक विशेष प्रकार की उर्जा उत्पन्न होती है जिससे मनुष्य अपनी शक्ति पर आधारित हो जाता है। यही वह तथ्य है जो रोगी को स्वस्थ बनाता है।[7]

समस्त संसार लय-युक्त चल रहा है। लय प्रमुख तीन प्रकार की होती है-**बिलंवित लय, मध्य लय,** और **द्रुतलय,** ये लय गायन, वादन और नर्तन में समान रूप से पाई जाती है। शरीर के अंदर तीन नाड़ियाँ होती हैं। इनमें मुख्य **सुषुम्ना** और इसके दाएँ-बाएँ **इड़ा** और **पिंगला** होती हैं। इनकी गति विषम हो जाए, तो शरीर के क्रिया-कलाप गड़बड़ हो जाते हैं।

यथा हस्तगता नाड़ी सर्वान्‌रोगान्प्रकाशयेत।
तथा वीणांगता तंत्री, सर्वान् रागान् प्रभाषते।।
(योग रत्नाकर)

नाड़ी की लय के ज्ञान से शरीर के रोगों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है और इसके बाद ही उपयुक्त उपचार किया जाना संभव होता है। इसी तरह संगीत की विभिन्न लय भी नाड़ी की लय को प्रभावित करती है। आयुर्वेद में निदान परिवर्जन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। अर्थात् रोग के मूल कारण पता लगाकर उसे समूल नष्ट किया जाता है और यही प्रक्रिया आयुर्वेदिक संगीतोपचार में भी अपनाई जाती है।

प्राचीन भारतीय आयुर्वेद के सिद्धान्तों में शरीर की **वात, पित्त, कफ,** ऐसी तीन प्रकृति मानी जाती हैं। सम्पूर्ण आयुर्वेद पद्धति वात, पित्त और कफ, इन तीन प्रकृति पर आधारित होती है। शरीर में वात, पित्त और कफ सम हों तो ये धातु कहलाते हैं तथा इनके अनियमित या विषम हो जाने से शरीर में रोग उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में ये दोष कहलाते हैं। इसलिए इन्हें आयुर्वेद में त्रिदोष कहा गया है । इन तीनों में वात प्रमुख है, क्योंकि शेष दोनों दोष वात के सहयोग से ही शरीर में यत्र-तत्र गमन और क्रिया करते हैं। संगीत के सात स्वरों में भी प्रत्येक में भिन्न-भिन्न वात, पित्त और कफ प्रकृति होती है जैसे-षड्ज स्वर पित्त प्रधान है। शुद्ध ऋषभ में वात और कोमल ऋषभ में कफ प्रकृति प्रधान है। शुद्ध गंधार में पित्त और कोमल गंधार में कफ प्रकृति प्रधान है। शुद्ध-मध्यम में वात, कफ और तीव्र-मध्यम में पित्त प्रकृति प्रधान है। पंचम में कफ प्रधान है। शुद्ध धैवत में वात और कोमल धैवत में कफ प्रधान है। निषाद में वात प्रधान है।[8]

संदर्भ सूचीः-

1 शर्मा डा. सुनीता, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. -225
2 खांडेकर भास्कर वि., संगीत चिकित्सा, पृ.-283
3 गर्ग डा. लक्ष्मीनारायण,-संगीत विशारद, पृ.-524
4 नारायण डॉ. पुष्पम (सं.), भैरवी अंक-5 से
5 खांडेकर भास्कर वि., संगीत रस परम्परा और विचार, पृ.-283)
6 नारायण डॉ. पुष्पम (सं.), लेख-श्रीवास्वत डा. संगीता, भैरवी-अंक-1, पृ.-132)
7 नारायण डॉ. पुष्पम (सं.), लेख-श्रीवास्वत डा. संगीता, भैरवी-अंक-1, पृ.-133
8 चौरसिया ओमप्रकाश, संगीत-रस परम्परा और विचार, पृ.-287

परम्परा और संगीत

डॉ अरविंद कुमार

परम्परा का अर्थ है 'परम्परा' पर के बाद पर, उत्तरवर्ती से उत्तरवर्ती, आगे से आगे, आगे से आगे बराबर परम्परा है आगे की ओर जाने वाली।[1] अतः परम्परा कला, विज्ञान, दर्शन आदि की पीढ़ी-दर-पीढ़ी के अनुभवों का संरक्षित अंग है, जिसको समाज से अलग नहीं किया जा सकता। परम्परा किसी भी समाज की संस्कृति पर निर्भर है। युगों-युगों से चले आ रहे रीति-रिवाजों को ही परम्परा कहते हैं।

परम्परा का सम्बन्ध संस्कृति के अविच्छिन्न स्वरूप से है। जिस प्रकार शताब्दियों के वैचारिक मंथन से संस्कृति का विकास होता है, उसी प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी के संचित अनुभवों से परम्पराएँ बनती है।[2] परम्परा का जन्म मानव के विकसित अवस्था से हुआ है। यह किसी भी समाज में प्राचीनता से आधुनिकता तक संचरण होती है। यह जीवन की यात्रा से सम्बन्धित है, जो नवीनताओं तथा अतीत के बीच से भविष्य का प्रतिफल नवीन संभावनाओ से समायोजन करती रहती है। समाज के किसी भी क्रियाकलाप को इसके अंतर्गत क्रमबद्ध किया जा सकता है। क्रियाशीलता मानव की प्रकृति है जो सदैव जागृत रहती है। यही मानव के क्रियाशीलता के निर्वाहन क्रम को परम्परा का नाम दिया जाता है।

परम्परा युगों-युगों से चली आ रही विचार अथवा ज्ञान अथवा रीति-रिवाज का सम्पोषक है। अनुभवों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचित ज्ञान ही परम्परा है। परम्परा वर्तमान की आवश्यकतानुसार अपने में परिवर्तन भी लाता है। परम्परा का सहज स्वभाव है कि वह सृजन प्रक्रिया को नियमित करता है। सृजनशील स्वभाव के कारण स्वतः परम्परा पारम्परिक प्रभाव को प्रत्यक्षतः जीवित रखता है।[3]

परम्परा समाज की संस्कृति है।[4] समाज के रीति-रिवाजों को यथावत जीवित रखने वाली संस्कृति को ही परम्परा कहा जाता है। किसी भी समाज में मान्यता की प्रधानता होती है। मान्यता का आधार ही है परम्परा। किसी देश, समाज, धर्म आदि का नाम लेते ही उसकी प्राचीन मान्यताओं अर्थात् परम्परा के प्रति ध्यान आकर्षित होती है। मन में यह उत्सुकता होती है कि उसकी प्राचीन परम्परा में क्या तथ्य समाहित हैं ? इसकी प्राचीन भूमिका क्या रही है ? प्राचीनता इस बात का प्रतीक है कि उसकी प्रमाणिकता को सिद्ध किया जाए।[5]

परम्परा समाज और देश की संस्कृति का दर्पण है, जिसके माध्यम से देश, समाज तथा उसकी संस्कृति के बारे मे जाना जा सकता है। परम्परा प्राचीनता से आधुनिकता को जोड़ते हुए सतत् नया आयाम सृजित करती है। अतः किसी भी कला की परम्परा उस कला के प्राचीनता से आधुनिकता के बीच क्रमशः पवित्रमय धारा को सेतु के माध्यम से जोड़ता है। यह कला के कलात्मक प्रभाव को पूर्ववत बनाए रखते हुए नवीन स्वरूप के सृजित करने का कार्य भी करती है।

सांगीतिक परम्परा :- संगीत मानव की कलात्मक उपलब्धि है। जिसमें हृदयगत भावनाओं

सहायक आचार्य, संगीत विभाग, मगध महिला महाविद्यालय, (पटना विश्वविद्यालय), पटना

को स्वर, लय के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। यह प्राकृतिक रूप से हमारे जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। जीवन के हर मोड़ पर अर्थात् जन्म से लेकर मृत्यु तक अविच्छिन्न रूप से इसका दर्शन होता है। यह सांस्कृतिक परम्पराओं का एक मूर्तिमान प्रतीक है जो अमूर्त भावनाओं को मूर्तता प्रदान करता है। जिस प्रकार कवि शब्दों के माध्यम से आत्म-अभिव्यक्ति करता है, उसी प्रकार संगीतज्ञ स्वरों को लय-तालबद्ध कर स्वरों का उतार-चढ़ाव, काकुभेद, वर्ण आदि की सहायता से अपने भावों की अभिव्यंजना करता है।

आदिम काल से ही संगीत जन जीवन का अंग होने के कारण इसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। प्राचीन काल में संगीत की दो धाराएँ मार्गी और देशी के रूप में प्रवाहित रही है। मार्गी पूर्णरूपेण नियमबद्ध संगीत था, जिसका लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति था। यह संगीत का परिष्कृत एवं परिमार्जित स्वरूप था। देशी संगीत का लक्ष्य जन-मन रंजन होने के कारण समयानुकूल इसमें परिवर्तन होने से इसके स्वरूप में समय समय पर बदलाव होता रहा है। वर्तमान में प्रचलित शास्त्रीय एवं लोक संगीत की परम्परा इसी संगीत के विकसित स्वरूप हैं।

भारतीय संगीत में परम्परा का बहुत महत्व है। इसी परम्परा के कारण भारतीय संगीत की धारा प्राचीन काल से वर्तमान तक सतत् प्रवाहित है। वैदिक काल में जहाँ 'साम गान' की परम्परा के साथ-साथ 'गाथा', 'नाराशंसी' गान की परम्परा का दिग्दर्शन होता है, वहीं बाद में यही परम्परा वैदिक और लौकिक गान के रूप में समाज में प्रतिष्ठित हुई। वैदिक और लौकिक गान के मूल में साम अथवा गाथा की परम्परा के दर्शन होते हैं।

हिन्दुस्तानी संगीत पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि इस संगीत की एक विशिष्ट परम्परा रही है जो समय की धारा के प्रवाह में अपने आप को समयानुकूल बदलाव लाते हुए मूल (जड़) से कहीं भी नहीं भटकी है। प्राचीन संगीत में सूत, मागध, चारक, भाट आदि इस परम्परा के संवाहक रहे हैं, साथ ही साथ हमारे ऋषि मुनि भी अपनी सांगीतिक परम्परा को संचरित करते रहे हैं।

'सामगान' की परम्परा से 'जातिगान' विकसित हुआ तथा बाद में यही परम्परा 'राग गान' के रूप में। राग में जहाँ शिवमत, सोमेश्वर मत, कल्लिनाथ मत, हनुमान मत, भरत मत आदि की परम्परा दृष्टिगत हैं वहीं बाद में 'वाणी' के रूप में ध्रुवपद गायन में सामावृष्ट हुआ तथा आगे यही परम्परा 'घरानों' में संरक्षित हुई।

हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में घराना :- हमारे संगीत शिक्षा की आदि परम्परा गुरु-शिष्य प्रणाली रही है। गुरु मुख से सुन-सुनकर ही शिष्यगण इस विद्या में पारंगत होते रहे हैं। संगीत-कला का अध्ययन केवल ग्रन्थ के आश्रय पर अविलंबी नहीं है, वरन् स्वर-शास्त्र के प्रायोगिक पक्ष के लिए गुरु-सानिध्य आवश्यक है। गुरु से पारम्परिक शिक्षा के बिना केवल ग्रन्थ मात्र से अथवा किसी अन्य माध्यम से स्वर-शास्त्र सीखने वाला व्यक्ति विद्वत सभा में शोभामान नहीं हो सकता। संगीत के स्वरों को गुरु मुख से बारम्बार श्रवण करने से ही सच्चा स्वर हृदयंगम होता है। संगीत जैसी प्रायोगिक कला के लिए पारंगत विशेषज्ञों से शिक्षा ग्रहण करना आवश्यक होता है। यही कारण है कि 'सामगान' की शिक्षा प्रणाली में गुरु-सानिध्य एवं गुरु से विद्या श्रवण का विशेष महत्व रहा है।[6]

नारदीय शिक्षा की दृष्टि से स्वर के यथार्थ ज्ञान के लिए स्वरशास्त्र का ज्ञान होना अनिवार्य है। बिना शास्त्राध्ययन में सामगान में विस्वर होने की संभावना बनी रहती है। गान विद्या मूलतः मौखिक विद्या है और उसका यथार्थ ज्ञान अधिकारी गुरु के मुख से ही संभव है तथापि गान-शास्त्र के बिना वह अपूर्ण तथा एकांगी सिद्ध होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि क्रियात्मक एवं सैद्धांतिक ज्ञान मिलन से ही कोई कलाकार तैयार होता है।

संगीत शिक्षण में गुरु-शिष्य परम्परा का महत्व है। यह विद्या गुरुमुखी विद्या है। गुरु अपने कंठ की विशेषताओ को शिष्य के गले में उतारने की कोशिश

करता है और शिष्य भी कठोर साधना के द्वारा गुरु की कही हुई बातों को आत्मसात करता है। गुरु के व्यक्तिगत विशेषताओं की झलक शिष्य के गायन में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। गुरु का अनुसरण करते समय गुरु के गुण-दोष अकस्मात् ही शिष्य की शैली को प्रभावित करता है।[8] अतः शिष्य के द्वारा गुरु से प्राप्त विद्या एक विशिष्ट शैली के रूप में प्रकट होती है। यह विशिष्ट शैली की परम्परा से ही 'घराने' की नींव पड़ती है।

भारतीय संगीत में घराने का महत्वपूर्ण स्थान है। यह गुरु-शिष्य के संयोग से बनता है, अर्थात् घराने का तात्पर्य किसी विशिष्ट गुरु परम्परा से होता है। घराने का जन्म मूलतः विद्यादान करने वाले गुरु और प्रतिभाशाली शिष्य के संयोग से होता है। अतः 'घराना' का अर्थ होता है एक विशेष स्थान पर प्रचलित अथवा व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित संगीत की रीति या शैली। यही रीति किसी एक वैशिष्ट्य द्वारा चिह्नित होती है।[9]

घराना शब्द की उत्पत्ति हिन्दी के 'धर' से हुआ है जो संस्कृत के 'गृह' शब्द का समानार्थी शब्द है, जिसका अर्थ होता है पारिवारिक सम्बन्ध, खून का रिश्ता, सहजाति विरासत और एक ही छत्रछाया में रहना। इस प्रकार संगीत में घराना का अर्थ सीधे रूप में संगीत के उस गुरु के उत्तराधिकारी के रूप में होता है जो अपने अधीन शिक्षा देता है और अपनी विशेषताओं को उस शिष्य में प्रत्यारोपित करता है। कालान्तर में एक नई कला और तकनीक अथवा शैली का कई पीढ़ियों में सामंजस्य दृष्टिगत होने से घराने का रूप या आकार ग्रहण करता है। किसी भी घराना का नाम, यश और विश्वसनीयता को स्थापित करने के लिए गुरु की विशेषताओं को कम से कम तीन पीढ़ियो तक संचरण करना आवश्यक होता है।

वर्ग, संप्रदाय से प्रदाप, परिवार, कुटुंब, वंश, परम्परा आदि के अर्थ में घराना रूढ है। यह अर्थ भी संगीतज्ञों के किसी विशेष शैली अथवा रीति के ही द्योतक हैं। स्वर, लय, ताल, अलंकरण आदि एक समान होते हुए भी उनके संयोजन व सूक्ष्म लगाव से गायकी के भिन्न रीति तैयार हो जाते हैं। यही रीति घराना के मूल में संचरण करती है। भारतीय संगीत में घराना परम्परा को गौरवशाली स्थान प्राप्त है। प्रो.रामाश्रय झा के अनुसार - "जिस भांति पतितपावनी गंगा की धारा में किसी प्रकार का अशुद्ध व अपवित्र जल तथा वस्तु मिल जाने से वह पवित्र समझा जाता है, उसी तरह संगीत क्षेत्र में भी 'घराना' शब्द पतितपावनी गंगां की भांति बना हुआ है। जिज्ञासुओं के इतना कह देने से कि अमुक गायक अमुक घराने का है, श्रोताओ को आत्म-संतुष्टि हो जाती है।[10]

घराने द्वारा पोषित या संरक्षित कलाकार केवल गुरु के नकल को प्रस्तुतीकरण में व्यक्त नहीं करते थे/हैं, बल्कि गुरु से प्राप्त ज्ञान को अपने अनुभवों व समयानुकूल सौन्दर्यानुभूति को समोवश कर अपने प्रस्तुतीकरण को रसात्मक-भावात्मक बनाते थे/हैं। वर्तमान में विविध संचार माध्यमों के द्वारा विभिन्न घराने के विशिष्टताओं को आत्मसात कर अपने कला को समृद्ध करते हुए भी अपने घराने के वैशिष्ट्य के बल पर अपने घराने की गायकी को आगे बढ़ा रहे हैं। अतः स्पष्ट है कि अपनी कला को समृद्ध बनाने के लिए घराना परम्परा में नवीन विचारों का समन्वय भी करना पड़ता है। प्राचीन और नवीन भावनाओं के समन्वय के कारण एक ही घराने के कलाकार की गायकी या वादन शैली में विभिन्नता दिखाई देता है। कला के दो क्षेत्रों में नव-सृजन की उपलब्धियाँ, कला के विषय में चिन्तन मनन एवं आत्म-संशोधन द्वारा ही सम्भव है क्योंकि प्रत्येक युग में उद्भाषित होने वाली नवीन रचनात्मक कल्पनाएँ सदा हमारे पूर्वकालीन अनुभवों पर आधारित रही हैं।[11]

सांगीतिक परम्परा के कारण ही भारतीय संगीत आज तक प्रभावी व असरदार है। घरानों के द्वारा संगीत के अंग-प्रत्यंग का पूर्ण निखार हुआ है, परिष्कार हुआ है तथा आज तक यह प्रतिष्ठित, समृद्ध और चेतनाशील बना हुआ है।[12] लोक स्वर से वैदिक स्वर का विकास हुआ, वैदिक स्वर पर सामगान का प्रचलन हुआ तथा साम के स्वरावली से जातिगान एवं जातिगान से राग का विकास हुआ। स्वरों की

विभिन्न सजावटों द्वारा राग का चित्रण करना ही कलाकार का प्रयोजन होता है। इसलिए एक ही राग भिन्न-भिन्न गायकों के मुख से भिन्न-भिन्न प्रकार का आनंद देता है। इसी राग परम्परा के कारण भारतीय संगीत विश्वपटल पर अपना विशिष्ट स्थान रखा है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि परम्परा ही प्राचीन के साथ वर्तमान को सूत्रबद्ध करती है तथा उसके नींव पर ही नवीनता पनपती है। भारतीय सांगीतिक परम्परा सदैव जन आकांक्षाओं के अनुरूप अपने को ढालते हुए विकासमान रही है।

संदर्भ

1. आजकल, सितंबर, 1998, पृ. 7
2. Haldar, Asit Kumar, Art and Tradition, P. - 11
3. मावड़ी, डॉ मोहन सिंह, भारतीय कला सौन्दर्य, पृ. 78
4. वही, पृ. 80
5. वही, पृ. 81
6. शर्मा, डॉ सत्यवती, संगीत का समाजशास्त्र, पृ. 77
7. परांजपे डॉ शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 129
8. शर्मा, डॉ सत्यवती, संगीत का समाजशास्त्र, पृ. 77
9. कपूर, तृप्ति, उत्तरी भारत में संगीत शिक्षा, पृ. 41
10. घराना अंक, संगीत, जनवरी-फरवरी 1982, पृ. 46
11. शर्मा, डॉ सत्यवती, संगीत का समाजशास्त्र, पृ. 83
12. वही, पृ. 85

हवेली-संगीत

डॉ. प्रियंका

भारत धर्म प्रधान देश है। भारतीय संगीत कला भी धर्म का आधार लेकर ही विकसित हुई है और यही कारण है कि आज भी इसे मोक्ष-प्राप्ति का साधन माना गया है विभिन्न शास्त्रों के साक्ष्य से यह प्रमाणित होता है कि संगीत की सनातन पद्धति वैदिक युग से लेकर वर्त्तमान तक किसी न किसी रूप में भक्ति और आध्यात्म की सुदृढ़ पृष्ठभूमि पर अवलम्बित रही है। मध्यकाल में 11वीं से 13वीं शताब्दी तक मुसलमानों द्वारा भारत पर लगातार आक्रमण होता रहा। उन्होनें भारतीय संगीत के अद्वितीय साहित्य को जड़ से नष्ट कर दिया। परन्तु किसी युग में शास्त्रीय संगीत को विकृत एवं दूषित करने वाली राज्याश्रय परम्परा के समानान्तर तत्कालीन संत संगीतज्ञों ने विभिन्न राग-रागिनियों एवं शास्त्रोक्त शैलियों में आबद्ध संगीत को समाज के आध्यात्मिक उत्थान के लिये सशक्त माध्यम बनाकर जन-जन में भक्ति की रसधारा प्रवाहित की, और संगीत की यही भक्ति धारा ''पुष्टिमार्गी'' सेवा पद्धति के नाम से प्रचलित हुई।

'पुष्टि' शब्द ऋग्वेद से लिया गया है, जिसका सांकेतिक अर्थ है 'पोषण' किन्तु यहॉ पर पुष्टि का अर्थ केवल शारीरिक पोषण न समझ कर एक विशिष्ट अर्थ दिया गया है। यह विशिष्ट अर्थ श्री मदभागवत् के 'पोषणं तदनुग्रहं'[1] सूत्र पर आधारित है जिसका अर्थ है कि भगवान का अनुग्रह ही पोषण या पुष्टि है। ऋग्वेद में लिखा है'' ययोरेवान् यो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धन।''[2] अर्थात जो रोगों का नाश करने वाला, धन देने वाला एवं पुष्टिवर्धक है वही मुझ पर कृपा करता रहें। पुष्टि की व्याख्या करते हुये श्री वल्लाभाचार्य ने लिखा है–''कृतं साध्यं साधनं ज्ञान-भक्ति रूपं शास्त्रोण बोध्यते ताभ्यां विहिताभ्यामृ मुक्ति मर्यादा तद्रहितानामापि स्वरूप बलेन स्व प्रापणं पुष्टिरित्युच्यते।''[3] श्री कृष्ण के प्रति विशुद्व प्रेम ही पुष्टिभार्गीय भक्ति है। श्री वल्लाभाचार्य की पुष्टिमार्गीय भक्ति में संगीत को सर्वाधिक महत्व दिया गया। आचार्य ने कहा है:-

''सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्धयति।
तथा कार्य समप्यैंव सर्वेषां ब्रहमता ततः।।''[4]

पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय और कीर्त्तन संगीत परम्परा की शुरूआत आचार्य श्री वल्लाभाचार्य ने ही की। पुष्टिमार्गीय संप्रदायों के मंदिर 'हवेली' के नाम से प्रसिद्व है। वैष्णव-मंदिरों की भॉति इनमे गुम्बज या शिखर नहीं होता और इनकी रचना श्री मंतों की हवेली की तरह होती है। इसलिये इनमें गाये जाने वाले कीर्त्तन को 'हवेली संगीत' से संबोधित किया गया। ऐसी मान्यता है कि यवनों द्वारा मूर्तियों को खंडित होने से बचाने के लिये भक्तगण इनके विग्रह को जब गुजरात ले आए, तब जिन स्थानों पर इनकों रखा गया, उनको 'मंदिर' न कहकर' हवेली' कहा गया ताकि शत्रुओं की दृष्टि उन पर न पड़े। भक्तगण इन हवेलियों को प्रभु का निवास मानतें है। भगवान श्री कृष्ण का कथन है:–'वेदानां सामवेदोऽस्मि।'[5] वेदों का कथन है:–'अंगुष्ठमात्रः पुरूषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।''[6] नाद ही ब्रहम है। व्यापक परमात्मा में ही आत्मा

व्याख्याता (संगीत विभाग) जे. डी. वीमेंस कॉलेज, पटना।

अनुरंजन करती है। नादाधींन जगत् सर्वम्'-स्वयं भगवान भी नाद के अधीन है। भगवान के हाथ में वेणु है और उन्होंने नारद से कहा है कि जहॉ-2 मेरे भक्तगण गायन करते हैं। वहॉं-वहॉं मै उपस्थित रहता हूँ।

सन् 1556 में भारत-भ्रमण के दौरान श्री वल्लाभाचार्य ब्रज (गोवर्धन) में एक निर्धन किसान-पुत्र कुंभनदास को पद गाते हुये सुनकर अत्यन्त प्रभावित हुये। वहीं उन्होनें श्रीनाथ जी का मंदिर बनवाकर कुंभनदास को सेवा के लिये नियुक्त किया। कुंभनदास के बाद क्रमशः सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविंद स्वामी, चतुर्भुज दास, नन्द दास एवं छीत स्वामी-ये आठ भक्त पुष्टिमार्गीय संप्रदाय के दीक्षित शिष्य हुये जो 'अष्टसखा'' या 'अष्टछाप भक्त' के नाम से विख्यात हुये। इन अष्ट सखाओं ने मध्यकाल के शास्त्रीय संगीत को नया जीवन प्रदान किया। इन्ही अष्टसखाओं ने राग-रागिनियों को भक्ति का माध्यम् बनाकर कीर्त्तन-सेवा के रूप में एक स्वस्थ-परम्परा को जन्म दिया, यही आज ''हवेली संगीत'' के नाम से विख्यात है। हवेली में देवों की आराधना, उपासना, प्रार्थना, अर्चन, आरती, स्तुति आदि का माध्यम् संगीत ही है। इसके पदों की भाषा ब्रजभाषा है अष्टसखाओं की यह कीर्त्तन-शैली ध्रुपद-धमार के अतिरिक्त' चाचर' की भी प्रथा का उल्लेख मिलता है। डॉ. अजीत सिंह पेन्टल ने कीर्त्तन की व्याख्या करते हुये कहा हैः-

The Kirtan that was performed in the temples of kashi, Ayodhya, Mathura and Vrindavan was performed by the traditional musicians who were known as ' Kirtankaras'. They used to set the devotional compositions of the Vaishnave Bhartas to the prevalent 'Dhrupad' and 'Dhamar' style of the Hindustani Music"[7]

हवेली में प्रतिदिन गाए जाने वाले कीर्त्तन' राग-सेवा' कहलाते है, जिनके अन्तर्गत नित्य प्रातः काल से रात्रि तक लीला के पद् ही गाये जाते है। प्रतिदिन सेवा-अर्चना की आठ झॉकियॉ निकलती थी। प्रत्येक झॉकी में एक सखा प्रमुख कीर्त्तनियॉ के साथ-2 आठ-आठ अन्य सहयोगी कीर्त्तनकार होते जिन्हे' झालरिया' कहा जाता था। इसके अलावा सभी सखाओं द्वारा प्रतिदिन प्रस्तुत कीर्त्तनों को लिखने की परंपरा थी जिसे 'लिखिया' कहा जाता था। शास्त्रीय-गायन पर आधारित यह कीर्त्तन-परंपरा केवल पद या काव्य रूप में ही आज उपलब्ध है। यद्यपि कई पदों का त्रुटित स्वरूप बंदिशों के रूप में विष्णुनारायण भातखंडे-कृत क्रमिक पुस्तक मालिका तथा राग-विज्ञान में, विष्णु दिगंबर पलुस्कर तथा पं. ओंकारनाथ ठाकुर के द्वारा लिखित पुस्तकों में भी मिलता है। कई पद्-रचनाओं को ख्याल या ध्रुपद की बंदिशों के रूप में कलाकारों ने अपने गायन में पेश किया है। कुछ प्रमुख हवेली-रचनाएँ प्रायः सभी घरानों में गाई जाती रही है, जैसे-प्यारी पग हौले (बिहागड़ा) सुधर चतुर बहियॉ (केदार) प्रबल दल साज (मेघ-मल्हार), अपनी गरज पकर लीनी (बागेश्री), ए मोरी आली (दरबारी कान्हड़ी) इत्यादि रचनाएँ।

हवेली संगीत में नित्य-लीला के अन्तर्गत मंगला, श्रृंगार, ग्वाल, राज-भोग, उत्थापन भोग, आरती और शयन आदि क्रियायें होती है जो श्री कृष्ण के बाल स्वरूप के दर्शन है। इसके बाद पूजन-विधि है जन्माष्टमी, राधाष्टमी, दान एकादशी, वामन द्वादशी, सॉझी रास एवं मुरली, दशहरा, धनतेरस, रूप चत्तुर्दशी, दीपावली, गोवर्धन पूजा, भाई दूज, गोपाष्टमी, कंसवंध, व्याह के पद, बिट्ठलनाथ जी का उत्सव, बसंत पंचमी, होली, रामनवमी, वलम्म जयन्ती, गंगा दशहरा, तीज, गनगौर इत्यादि। इसके अलावा छः ऋतुओं में वल्लभ संप्रदाय में अलग-2 उत्सव मनाये जाते है। जैसेः-

1. शरद में रास।
2. हेमन्त में देव प्रबोधिनी।
3. शिशिर में होली।
4. बसंत में डोल।
5. ग्रीष्म में फूल-मंडली।
6. वर्षा में हिन्डोरा।

हवेली संगीत में कीर्त्तन तथा उत्सवों में विभिन्न भावों के पदों को भिन्न-भिन्न रागों में बॉधकर प्रस्तुत किया गया है। जैसेः-

1. राग भैरव-बधाई, रास, हिन्डोरा।

2. राग-पालना, नामकरण।
3. राग बिलावल-बधाई, गोवर्धन-पूजा, रथ-यात्रा।
4. राग आसावरी-ब्याह के पद, संक्राति, दान के पद।
5. राग धनाश्री-ठाणी, बाल-लीला, मुरली के पद।
6. राग-सारंग-बधाई, फूल मंडली, गणगौर।
7. राग गौरी-सांझी, रास।
8. राग-ईमन रास, गोचारण, ब्याह के पद।
9. राग-केदार-बाल-लीला, मुरली।
10. राग-मालकौंस-दान के पद्, संक्रांति इत्यादि।

यद्यपि आज अष्टसखा रचित पदों में रागों के स्वरों की स्पष्टता झलकती है पुनरपि संगीत के साथ-साथ भक्ति कार्य का स्वरूप आज भी जन-मानस को आकर्पित करता है। वलभ्भ-संप्रदाय के इस कीर्त्तन संगीत के तीन प्रमुख केन्द्र है।

1. राजस्थान (कंकरौली क्षेत्र) में नाथ द्वारा।
2. मथुरा-वृन्दावन का ब्रज-क्षेत्र।
3. गुजरात-सौराष्ट्र का क्षेत्र।

यद्यपि कुछ वर्षों तक यह संगीत पुष्टिमार्गीय मंदिरों तक सीमित था परन्तु वर्त्तमान समय में भी यह विख्यात है। मध्यकाल में अष्ट-सखाओं द्वारा इस गायन शैली का प्रारम्भ हुआ और आज यह स्वतंत्र रूप से गायी-बजायी जा रही है। कुछ उच्चकोटि के कलाकारों ने हवेली-संगीत को आज भी जीवंत रखा है, उनमें प्रमुख नाम है-पवार बंधु (इंदौर), प्रो. सत्यभान शर्मा (आगरा), पन्नालाल कीर्त्तनियां (नाथ द्वारा) चम्पालाल नायक (गुजरात सौराष्ट) इत्यादि। सुविख्यात गायक पं. जसराज ने भी मैग्नासाउंड कंपनी द्वारा रिलीज अपने हवेली संगीत के रिकार्ड में'' श्री विट्ठेलेश कीर्त्तन रत्नाकर'' ग्रन्थ से कुछ पदों को गाया है।

''हवेली एक शास्त्रीय संगीत-शाला है'' अगर ऐसा कहें तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। इस प्रकार शास्त्रीय संगीत के प्रचार में हवेली संगीत का महत्व पूर्ण योगदान है।

संदर्भ ग्रन्थ सूचीः-

1. श्रीमद्भागवत्।
2. 'ऋग्वेद' प्रथम मंडल, सूक्त-18
3. अणुभाष्य-33, 29
4. 'नित्य नियम के 67 पाठ (सिद्धांत रहस्य), श्लोक 7-8, पृष्ठ-747
5. Pental Ajit Singh" The nature and place of Music in Sikh
6. Religion and its affinity with Hindustani Classical Music". P-56.

वर्तमान में बदलती शैक्षणिक पद्धति (व्यावसायिक दृष्टिकोण के आधार पर)

अल्पना

औद्योगिक समाज और उसकी आकांक्षाओं के आने से शैक्षिक परिदृश्य में परिघटनात्मक परिवर्तन हुआ है। जिसने शैक्षिक प्रबन्धन में नई शक्तियां और नये दबाव पैदा किये है। अब शिक्षा का प्राथमिक कार्य चरित्र-निर्माण या नैतिक विकास का प्रोत्साहन नहीं रहा है बल्कि भौतिक प्रगति के लिये कुशलता, तकनीकी ज्ञान और प्रौद्योगिकी पर सारा बल दिया जा रहा है। आज शिक्षा बौद्धिक शक्तियों या अमूर्त प्रकार के ज्ञान के विकास तक सीमित नहीं रही है बल्कि कुशलताओं, औद्योगिक उत्पादकता का ज्ञान वस्तुओं और सेवाओं के सृजन के विकास इसके आयाम बन गये है परन्तु आज भी शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य यही है कि ज्ञान को उत्पन्न और विस्तृत किया जाये लेकिन बदलती हुई परिस्थितियों में समाज को सम्माननीय और सुखद बनाने के लिए ललित कलाओं की शिक्षा का अपेक्षित अंग मानकर उनका सम्मान करना आवश्यक है। चूँकि परिवर्तन सृष्टि का नियम है। इसलिए बदलते परिवेश का हाथ मिलाकर स्वागत भी करना चाहिए तथा इसके साथ ही अपने आप को भी तैयार करना चाहिए। जैसा कि हम सभी जानते है कि संगीत सबके रोम-रोम में व्याप्त है, अधिकांशत हर कोई गाता-गुनागुनाता है, सब मनोरंजन के लिए अपने मन मस्तिष्क में सर्वप्रथम संगीत को ही खोजते है लेकिन इतना अभिन्न अंग बन जाने के बावजूद भी शास्त्रीय संगीत को समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है और दूसरी तरफ जो लोग संगीत के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझते है और कुछ करना चाहते है तो उनके मस्तिष्क में रोजगार शब्द प्रश्न चिन्ह बन जाता है जो उसे इस क्षेत्र में जाने से रोकता है तो अब हमारे पास दो उत्तरदायित्व है जिन्हें दूर करना है एक शास्त्रीय संगीत को समाज में अधिक से अधिक विस्तृत करना और दूसरा, संगीत में व्यवसाय या रोजगार सम्बन्धी समस्याओं के लिए विकल्प बनाना, लेकिन देखा जाये तो कहना है कि जब रोजगार के विकल्प खुलेगे तो स्वयं ही शास्त्रीय संगीत अपनी स्वर की महक जनसाधारण लोगों में छोड़ेगा क्योंकि अगर एक व्यक्ति भी इस संगीत में रोजगार का हिस्सा बनता है तो वह स्वयं ही कम से कम दस लोगों को प्रभावित करता है और वो दस लोग सौ लोगों को, तो इस तरह से यह श्रृंखला बाकी मददगार साबित होगी।

लेकिन इन दोनों ही बातों पर प्रयोगात्मक रूप से अमल करने के लिए सर्वप्रथम हमारी शैक्षिक पद्धति व पाठ्यक्रम में बदलाव होना चाहिए। जिसमें मेरे अनुसार जैसे-

- संगीत को प्राइमरी से आठवीं एक आवश्यक विषय के रूप में रखना चाहिए। ताकि सभी बच्चे शास्त्रीय संगीत से अवगत हो तथा इसके साथ उनमें संस्कृति व नैतिक मूल्यो का विकास हो सके।
- यह सिर्फ सरकारी स्कूल में ही नहीं बल्कि निजी स्कूल कॉलेजों में संगीत विषय आवश्यक

-शोधार्थी वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

विषय के रूप में होना चाहिए ताकि सरकारी स्कूल के विद्यार्थी ही नहीं बल्कि प्रत्येक बच्चा संगीत से अवगत हो सके।

- इसके पश्चात् नौवीं से बारहवीं तक जो बच्चे संगीत को विषय के रूप में चुनते हैं उनमें पढ़ायी जाने वाली गुणवत्ता का ध्यान रखना चाहिए।
- हाईस्कूल व इण्टरमीडिएट में संगीत विषय सिर्फ सरकारी स्कूलों में होता है, इसलिए निजी स्कूलों में भी होने का प्रावधान होना चाहिए।
- अधिकांश जगह ये देखा जाता है कि विभिन्न विद्यालयों एवं संस्थानों में संगीत विषय सिर्फ बालिकाओं के लिए उपलब्ध है लेकिन बालक वर्ग के लिए कोई खास व्यवस्था नहीं होती है। कारण बालक वर्ग इससे वंचित रह जाते हैं अतः ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें दोनों वर्ग संगीत की शिक्षा ग्रहण कर सके।
- बारहवीं के पश्चात् कोर्स को दो तरीके से वर्गीकृत किया जा सकता है-

1. बारहवीं के बाद स्नातक करने, फिर Short term Type Course या स्नातकोत्तर आदि कर सकते हैं जिसमें कोर्स की समय अवधि कम होगी।
2. बारहवीं के बाद से ही वह विद्यार्थी इच्छानुसार विभिन्न प्रकार के कोर्सों में से चुनाव करे जिसमें समय अवधि ज्यादा होगी और जब किसी एक विकल्प का चुनाव कर लिया जाये तो उसके साथ, दो पेपर आवश्यक रूप में पढ़ाये जाने का प्रावधान होना चाहिए जिसमें एक पेपर में Theoretical Knowledge मिल सके और दूसरे Practical Knowledge, जिसमें विद्यार्थी संगीत के किसी पहलू से वंचित न रह सके और उसे सबकी Basic Knowledge मूल रूप में अपने चुनाव किये गये विकल्प को ही पढ़े। जिससे किसी एक क्षेत्र में वह परिपक्व हो सकेगा।

इसके लिए विभिन्न तरीके से कोर्स चलाये जा सकते हैं–

- Musicologist
- Music Business Management
- Artist Management
- Music Composer Courses
- Music Therapist
- Sound Engineering etc.

इसके साथ ही जो लोग सिर्फ मनोरंजन के लिए संगीत सीखना चाहते है या थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त करना चाहते है तो उन लोगों के लिए Certificate Course चलाये जाने चाहिए जो कि गायन, वादन, नृत्य तीनों विधाओं में होने चाहिए। संगीत की गुणवत्ता का ध्यान रखना होगा। सिर्फ कागजी खानापूर्ती नहीं होनी चाहिए। इस तरह से जो स्नातक व स्नात्तकोतर में जो विद्यार्थी पढ़ रहे हैं। उनके अच्छी तरह से तैयार किया जा सकेगा और विद्यार्थियों की संख्या की गुणवत्ता बरकरार रहेगी।

इसके साथ ही वर्तमान समय में Semester System का चलन बहुत जोर पकड़ रहा है जो कि संगीत के प्रयोगात्मक विषय के लिए यह पूरी तरह उत्तम नहीं है। इससे गुणवत्ता पर प्रभाव पड़ रहा है तो वार्षिक प्रक्रिया ही होना चाहिए। इसके साथ ही जैसा कोर्स वैसा ही पाठयक्रम होना चाहिए।

अतः अगर इस तरह के Short Term type course संचालित किये जायेंगे तो व्यवसाय के लिए अधिक विकल्प तैयार हो सकेगे और विद्यार्थी अपनी संगीत को जानने की जिज्ञासा को शांत करने के लिए तथा रूचि को ध्यान को शांत करने के लिए तथा रूचि को ध्यान में रखते हुए अपने व्यवसाय का चुनाव कोर्स के आधार पर कर सकेगे, जिसमें जो विद्यार्थी अच्छा कलाकार बनना चाहता है तो वह कलाकार ही बनेगा और जो विद्यार्थी, संगीत शास्त्री, संगीत समालोचक, संगीत चिकित्सक, संगीत शिक्षक, संगीत अभियांत्रिकी आदि बनना चाहता है तो वह उसी के अनुसार शिक्षा ग्रहण कर आसानी से व सही गुणवत्ता के साथ अपने कार्य को सही दिशा में अंजाम दे सकेगा। अतः इसके साथ संगीत के शिक्षण व कलात्मक प्रतिभा व ज्ञान होने के साथ-साथ शांत मन व निर्मल आत्मा का होना आवश्यक है जिसमें वह विद्यार्थियों को उचित मार्गदर्शन व उनमें

कला के प्रति प्रेम पैदा कर सके। इसके साथ ही विद्यार्थियों का लक्ष्य मात्र डिग्री प्राप्त करना ना होकर भविष्य में संगीत की सेवा करना भी होना चाहिए। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में पाठ्यक्रम में आपेक्षित सुधार की आवश्यकता है क्योंकि हमें उपरोक्त बातों के साथ-साथ विद्यार्थियों के भविष्य को भी सुनयोजित करना है।

अब वह समय आ गया है कि हमें अपने पाठ्यक्रम में संगीत से जुड़े अन्य सहयोगी विषयों को भी जोड़ना होगा। यदि एक बार हम सभी अपनी शिक्षा पद्धति में Applied Music को समायोजित करने के मुद्दे पर सहमत हो जाते है, तो आगे का काम बहुत आसान हो जाता है, उच्च स्तर तक पहुँचते-पहुँचते संगीत के विद्यार्थी किसी भी एक प्रयोज्य विषय में विशिष्ट शिक्षा प्राप्त कर उसमें दक्ष हो जायेगे और संगीत में व्यवसाय से सम्बन्धी समस्याएँ प्रशिक्षण के दरमियान ही सुधर जायेगी और एक अच्छा भविष्य सुनियोजित हो सकेगा।

संगीत के क्षेत्र में उच्च शिक्षा का यह अनिवार्य दायित्व है कि संगीत के क्रियात्मक व शास्त्र पक्षों की तरक्की के साथ-साथ संगीत कला के विकास के लिए नवीनतम तकनीकों को विकसित किया जाये जिससे यह कला विदेशों में भारतीय का गौरव बढ़ा सके।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. चौधरी सीमा, संगीतायन
2. शर्मा प्रो. स्वतंत्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत
3. शर्मा डॉ. जीत राम, आधुनिक व्यावसायिक हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन (परम्परा व लक्षण)

संगीत शिक्षा व मानव जीवन के साथ पारस्परिक सहःसम्बन्ध

श्वेता राय

संगीत मानव समाज की कलात्मक उपलब्धियों और सांगीतिक सांस्कृतिक परम्पराओं का मूर्तिमान प्रतीक है। संसार की अन्य प्राचीन सभ्यताओं पर दृष्टि डालने पर पता चलता है, व्यक्ति के समग्र विकास हेतु शिक्षण में बहुत विचारपूर्ण कलाओं का समावेश किया जाता था। कलाओं को सीखने के लिए अथक परिश्रम और एकाग्रता की आवश्यकता होती है। संगीत हमारे व्यक्तित्व के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह हमारे मनोभावों को नियंत्रित करता है तथा इसके द्वारा समुचित व्यक्तित्व विकास की ओर अग्रसरित होता है। संगीत की शिक्षा से अनुशासन तथा परिश्रम व नैतिकता की भावनाओं को पैदा किया जा सकता है। संगीत मानव जीवन में रस का संचार कर उसे मानसिक रूप से उन्नत कर उत्कृष्ट एवं जीवन को कलात्मक बनाता है। संगीत शिक्षा द्वारा स्मृति और कल्पनाशक्ति का विकास, राष्ट्रप्रेम, आत्मविश्वास आदि सद्गुणों का बीजारोपण सम्भव है।

पूर्ण व्यक्तित्व का विकास तभी संभव है जब व्यक्ति के ज्ञानात्मक, क्रियात्मक व भावनात्मक विकास तीनों का परस्पर संतुलन हो। संगीत का सम्बन्ध यद्यपि तीनों से है, किन्तु प्रमुख रूप से भावनात्मक विकास से है। संगीत की शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति में साधना शक्ति व संयम पल्लवित होता है। संगीत हमारे जीवन में एक ऐसा माध्यम है जो न केवल मानसिकता को प्रशिक्षित करता है अपितु हमारे मनोभावों को भी प्रशिक्षित करके उन्हें विशुद्ध स्वरूप प्रदान करता है। संगीत से मानव जीवन में सकारात्मक सोच की अवस्था जागृत होती है, जिसके फलस्वरूप उसका व्यक्तित्व विकसित होता है। आज वैज्ञानिक भी इस बात को मानते हैं कि संगीत की शिक्षा से मनुष्यों के विचारों में परिवर्तन होते हैं। कठिन परिश्रम व एकाग्रचित ही एवं अभ्यास में लीन होकर ही संगीत की शिक्षा प्राप्त की जाती है। संगीत से हमें अनुशासन मिलता है, वर्तमान समय में संगीत भाग-दौड़ वाले जीवन में शान्ति व सुकून पहुँचाने में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। संगीत से मानव की नकारात्मक प्रवृत्तियों- हिंसा, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार आदि में कमी आती है तथा सकारात्मक प्रवृत्तियों दया, करूणा, प्रेम आदि की भावना जागृत होती है। संगीत की शिक्षा का शैक्षिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक महत्व भी है। संगीत शिक्षा द्वारा स्मृति और कल्पनाशक्ति का विकास आत्मविश्वास आदि सद्गुणों का बीजारोपण सम्भव है। संगीत की शिक्षा से अनुशासन तथा परिश्रम व नैतिकता की भावनाओं को पैदा किया जा सकता है। सर्वप्रथम बच्चा परिवार में रहकर व्यावहारिक ज्ञान अर्जित करता है। इसलिए परिवार को प्रथम पाठशाला भी कहा जाता है। समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान हैं। बच्चे पर पड़ोस व पड़ोस के बच्चों का प्रभाव भी पड़ता है। पड़ोस के बच्चों के साथ खेलने इत्यादि से शिशुओं में अनुकूलता एवं सामंजस्य का भाव विकसित होता है। कुछ समय

एम.फिल., संगीतशास्त्र विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

बच्चा पाठशाला में अन्य शिक्षकों एवं पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से अपना विकास करता है। पाठशाला में बच्चों पर अपने शिक्षकों का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार शिशुकाल से लेकर जीवन पर्यन्त व्यक्ति अपने ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर गुणों को विकसित करता है। समाज में एकता स्थापित करना, व्यक्तिगत व्यवहार को नियंत्रित करना, दंड इत्यादि सभी सामाजिक संरचना और सामाजिक विकास के फलस्वरूप ही विकसित हुए हैं। इस प्रकार प्रत्येक समाज को विकसित करने में भाषा, जाति, वर्ग, कला, खेलकूद, शिक्षा का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

सांस्कृतिक विकास-

संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कहीं गई है, इनसे अपने आपको परिचित कराना संस्कृति है, दूसरी परिभाषानुसार संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है यह मन आचार अथवा रूचियों की परिष्कृति है। संस्कृति मूल्यों शैलियों और भावनात्मक अभियानों का संसार है। यह हमारे रहने, सोचने के ढंगों, कार्यकलापों, कला-साहित्य, धर्म, मनोरंजन एवं आनंद में हमारी अभिव्यक्ति है, एक समाज विशेष के व्यवहार प्रतिमानों अथवा समग्र जीवन को ही संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं संस्कृति का क्षेत्र अत्यंत विशाल है। निरंतर प्रगतिशील मानव जीवन प्रकृति और मानव समाज के जिन-जिन असंख्य प्रभावों और संस्कारों से सुसंस्कृत और प्रभावित होता रहता है उन सबके एक सामूहिक स्वरूप को ही आज हम संस्कृति के नाम से सम्बोधित करते हैं। इस प्रकार मानव समाज के जो भी सद्गुण हैं वे समस्त गुण संस्कृति के ही अन्तर्गत समाहित प्रतीत होता है। संस्कृति शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है, साधारणतः लोक व्यवहार में कुशल व्यक्ति को सुसंस्कृत कहा जाता है। प्रारम्भ में व्यक्ति ने संस्कृति का निर्माण किया, बाद में संस्कृति द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण होने लगा। संस्कृति व्यक्ति के मनोभावों को प्रभावित करती है। संस्कृति द्वारा मानव अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति से साधन प्राप्त कर अपनी विशिष्ट परम्परा का निर्माण करता है, संस्कृतिकरण मूलतः एक मानसिक प्रक्रिया है, देश काल और परिस्थिति के अनुसार विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ भिन्न हुआ करती हैं, संस्कृति बौद्धिक विकास की अवस्थाओं को सूचित करती है।

संस्कृति का प्रभाव बचपन से प्रारम्भ होकर जीवन पर्यन्त पड़ता है, संस्कृति से सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रभावित होता है, संस्कृति व्यक्ति का मार्गदर्शन कर अमिट छाप छोड़ती है, संस्कृति सदैव एक सी नहीं रहती नये लोगों के सम्पर्क का प्रभाव इस पर पड़ता है। संस्कृति केवल दार्शनिक विचारों पर आधारित नहीं होती, दार्शनिक विचार एवं सिद्धान्त व्यक्ति को विद्वान बना सकते है, परन्तु उनसे कलात्मक सृजनशीलता का विकास नहीं हो सकता। भारत में वेदान्त के सैकड़ों पंड़ित हैं परन्तु उनके द्वारा कला का विकास नहीं हो सकता। संस्कृति जीवनयापन की प्रणाली है, इसे आदर्श व्यवहार के मानदंड का पैमाना भी कहा जाता सकता है। वास्तव में संस्कृति का सम्बन्ध हमारी भावना और आत्मा से है। भारतीय संस्कृति सदैव से समन्वय परक रही है, अति प्राचीनकाल से ही भारत में अनेक जातियाँ आई। उनका भारतवासियों से सम्बन्ध स्थापित हुआ और वे सब संस्कृतियाँ भारतीय संस्कृति में घुलमिल गई। संस्कृति ब्रह्म की भाँति अवर्णनीय है यह व्यापक अनेक तत्वों का बोध कराने वाली जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों से सम्बन्धित है और यह मानव जीवन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। लोकगीत, कविता, नृत्य, चित्रकला, स्थापत्य कला, संगीत कला के द्वारा संस्कृति के ये भाग पिछली पीढ़ियों से प्राप्त होते हैं। कला मानव में उच्च मूल्यों का सृजन करती है। कला मानवीय गुणों को उत्पन्न करती है। जिस समाज में कला का आदर होगा उस समय के व्यक्तियों में उच्च गुणों का स्थान होगा तथा पशु प्रवृत्ति कम से कम पाई जायेगी। संस्कृति और कला एक दूसरे के पूरक होने के साथ मानव जीवन के विकास के सोपान कहे जा सकते हैं। ठाकुर जयदेव

सिंह के अनुसार "संस्कृति के स्तर का माप उसकी कला द्वारा होता है। कला जिस वस्तु या यथार्थ का बोध खोजती है वह यथार्थ स्वयं हमारा जीवन है। हमारा वैयक्तिक जीवन तथा सामाजिक जीवन इसीलिये कलाओं से प्रभावित रहा है।" मात्र उदर पूर्ति मानव का लक्ष्य नहीं वह अपने व्यक्तित्व की भावनात्मक अभिव्यक्ति भी चाहता है। कला का सम्बन्ध हमारे दैनिक जीवन से है, हमारे धर्म प्राणमय भारतीयों का जीवन विशेषकर कलामय रहा है और भारतीय कला का उद्भव भी धर्म में हुआ है। इस प्रकार हम दखते हैं कि भारतीय संस्कृति ने धर्म और कला को अपने में समेटकर मानव जीवन को विकसित करने में अपना योगदान दिया है। भारतीय संस्कृति और संगीत कला का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। संगीत आदि कलाएं संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है, वास्तव में हमारी संस्कृति में एकीकरण की विशेष क्षमता है, वह इसे अन्य कलाओं से प्राप्त हुई है। इसलिये संगीत और दूसरी कलाओं को प्रोत्साहन देना भारतीय संस्कृति को उन्नत करने के समान माना गया है। संगीत कला भारतीय संस्कृति में एक अत्यन्त उच्चकोटि की कला मानी गयी है। सूक्ष्मभावों की अभिव्यक्ति तथा भावनात्मक विकास संगीत कला के द्वारा होता है। कलाओं द्वारा मानव को सुसंस्कृत बनाया जा सकता है, अतः सांस्कृतिक विकास में संगीतकला के महत्व को नकारा नहीं जा सकता है। संगीत समाज को प्रभावित करता है, तथा मानव जीवन के सांस्कृतिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है।

प्राचीनकाल में संगीत के क्रियात्मक स्वरूप के साथ-साथ शास्त्रात्मक ज्ञान को भी महत्व दिया गया। नारदीय शिक्षा में भी कहा गया है कि- गान विधा यद्यपि मूलतः मौखिक हैं तथापि गान शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किए बिना संगीत विधा अपूर्ण है। संगीत के सूत्रों के अनुसार सामगान से ही भारतीय संगीत का विकास माना जाता है। प्राचीन भारत में साधारणतः संगीत शिक्षा गुरु-शिष्य सम्बन्ध पर ही केन्द्रित थी। उस समय विधाध्ययन गुरूकुलों में होता था। गुरु गृह में ही रह कर शिष्य वर्षों निरन्तर साधना करते हुए विषय पर अधिकार प्राप्त करते थे। अध्ययन का विषय भक्ति ज्ञान, साधना, दर्शन काव्य, व्याकरण, कला साहित्य था संगीत कुछ भी हो, सभी में गुरूकुल पद्धति से ही शिक्षा दी जाती थी। यह हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति की अनन्यता ही थी कि गुरू-शिष्य के सम्बन्ध को इतनी घनिष्ठता प्रदान की गई थी कि वह शिक्षा का ही एक अनिवार्य अंग बन गया। अतः घराना परम्परा में भी इस प्राचीन सम्बन्ध का यथावत् पालन किया गया। संगीत शिक्षा के क्रियात्मक पक्ष को सुदृढ़ बनाने, परम्पराओं का पालन करने तथा नई सौन्दर्य दृष्टि अपनाने से ही कला का विकास होता है और साथ-साथ उसका परम्परागत रूप से सांस्कृतिक महत्व भी सुदृढ़ होता है और मानव जीवन का विकास भी तभी सम्भव है जब उस देश की संस्कृति और कला की उन्नति होती रहे। संगीत मानव जीवन में रस का संचार कर उसे मानसिक रूप से उन्नत कर उत्कृष्ट एवं जीवन को कलात्मक बनाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची :

1. शर्मा डॉ. उमाशंकर, संगीत का योगदान मानव जीवन के विकास में
2. सक्सेना डॉ. मधुबाला, भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर

सोमेश्वर कृत 'मानसोल्लास' में संगीत (गायन के परिप्रेक्ष्य में)

प्रियंका तिवारी

राष्ट्रकूटों के पतन के बाद कल्याणी के चालुक्यवंश का उदय हुआ। इस वंश का इतिहास साहित्य तथा लेखों के आधार पर ज्ञात होता है। महाराजा सोमेश्वर इसी पश्चिमी चालुक्य (कल्याणी) वंश के एक विद्वान शासक तथा चालुक्य वंशीय राजा विक्रमादित्य षष्ठ (1076ई.-1138 ई.) के पुत्र थे।

सामेश्वर ने न केवल मानसोल्लास वरन अन्य ग्रन्थों की रचना करके अपनी विद्वता का परिचय दिया है। पतन भण्डार में ''विक्रमाभ्युदय'' नामक ग्रन्थ की अपूर्ण हस्तलिपि उपलब्ध है, जिसके रचयिता महाराज सोमेश्वर माने गये है। इसके अतिरिक्त 'संगीत रत्नावली' नामक एक संगीत विषयक ग्रन्थ के रचयिता भी महाराजा सोमेश्वर माने जाते हैं, जो अप्राप्य है।

महाराजा सोमेश्वर एक महान राजनीतिज्ञ होने के साथ ही साथ एक अत्यन्त ही विद्वान व्यक्ति थे। मानसोल्लास में इन्होंने राज जीवन से सम्बन्धित समस्त विषयों तथा ज्ञान विज्ञान एवं कला के अनेक प्रसंगों की ओर भी समान रूप से ध्यान दिया है। मानसोल्लास में सोमेश्वर ने ज्योतिष, अश्वशास्त्र, गजशास्त्र, पाक शास्त्र आदि विद्वानों तथा वस्तु, चित्र, संगीत आदि ललित कलाओं का विस्तृत एवं महत्वपूर्ण विवेचन किया है। मानसोल्लास ग्रन्थ का रचना काल 11वीं शताब्दी है। सोमेश्वर ने इस ग्रन्थ का एक और नाम 'अभिलाषार्थचिन्तामणि' भी दिया है। इस ग्रन्थ में पांच अध्याय या विंशतियां है। प्रत्येक अध्याय को सोमेश्वर ने 20-20 विनोदों के अन्तर्गत बांटा है। अतः अध्याय को विंशति कहा है। इस प्रकार सोमेश्वर ने सम्पूर्ण मानसोल्लास को पाँच विंशति और सौ विनोदों के अन्तर्गत बांटा है। मानसोल्लास के पाँचों विंशतियों के नाम क्रमशः इस प्रकार दिये हैं-

1. राज्यप्राप्तिकरण विंशति।
2. राज्यस्थैर्यकरण विंशति।
3. उपभोग विंशति।
4. विनोद विंशति।
5. क्रीड़ा विंशति।

'मानसोल्लास' के इस संगीतांश को ग्रन्थकार ने 1405 श्लोकों के अन्तर्गत बताया है जिसमें 'गीतविनोद' को 567, 'वाद्य-विनोद' को 380 तथा नृत्य विनोद को 456 श्लोकों के अन्तर्गत व्यवस्थित किया है। मानसोल्लास ग्रन्थ की रचना सोमेश्वर ने राजा के क्रिया कलापों को प्रधान्य देते हुए किया है, अतः गीत विनोद के प्रारम्भ में ही राजा को सभापति के रूप में स्वीकार किया है तथा सभापति बनने योग्य गुणों का वर्णन किया है। तथा गीत विनोद के समय राज दरबार में राजपुत्रों, राजपत्नियों तथा सभ्यों के बैठने के स्थान तथा गुण सुनिश्चित किये हैं। सोमेश्वर ने 'गीत विनोद' में संगीत सम्बन्धित चर्चा सर्वप्रथम वाग्गेयकार के गुण तथा प्रकार को

शोध छात्रा, संगीत गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

बताकर किया है तथा वाग्गेयकार को उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम इन चार श्रेणियों में विभाजित कर उनके अलग-अलग लक्षण भी बतायें है। वाग्गेयकार के बाद सोमेश्वर ने गायकों के गुण-दोषों का विस्तृत वर्णन किया है जिसमें मध्यमउत्तमोत्तम, अधम आदि कई प्रकार के गायकों के लक्षण भी बतायें है। सर्वप्रथम अधम गायकों के सन्दर्भ में 17 प्रकार के निन्दित गायकों के नाम तथा लक्षण भी बताये हैं। जिनके नाम क्रमशः कपित, तुम्बकी, काकी, सन्दष्ट, सुदुष्ट, अव्यवस्थित, फत्कारी, जम्बक, वक्री, कराली, निम्नलिखित, उष्ट्रग्रीव, प्रसारी, उद्वडो, कम्पित, ध्वनिहीन, अव्यक्त है। इनके लक्षण कहने के पश्चात् शरीर के अनुसार मध्यम गायकों के चार भेद तथा उनके लक्षण श्लोक संख्या 48 से 50 में बतायें हैं। तत्पश्चात् शरीर का लक्षण एवं सुशरीर प्राप्त होने का कारण बताते हुए सोमेश्वर कहते हैं- ''अभ्यास के बिना जो सुन्दर कण्ठ का अधिकारी हो, अर्थात् जिसे सुन्दर शरीर के साथ ही उत्तम कण्ठ प्राप्त हो, तथा जो रागों को सहज ही गा सके आदि गुण शरीर गायक में उसी प्रकार विद्यमान रहता है, जिस प्रकार चम्पा पुष्प में गन्ध, ईख के डण्ड में मधुरता आदि स्वभाविक रूप से विद्यमान रहती है। यह गायक को पूर्वजन्म के पुण्यों, ज्ञान, योग, तपस्या तथा ईश्वर की कृपा से प्राप्त होता है, अभ्यास से नहीं।

शरीर के लक्षण तथा सुशरीर प्राप्त होने के कारणों का उल्लेख सोमेश्वर के बाद 'संगीत रत्नाकर' के प्रकीर्णका अध्याय तथा 'संगीत समयसार' के द्वितीय अधिकरण में भी प्राप्त होता है, जो सोमेश्वर के मत से समानता रखता है।

अब उद्देश्य और कार्यों के आधार पर पुनः पांच प्रकार के गायक बतायें है। जिसमें-शिक्षक, भावक, रंजक, रसिक तथा कूटकार है। इनके लक्षण भी गीत विनोद के श्लोक सं. 57 से 61 तक बताये हैं। गायकों के ये पांच भेद संगीत रत्नाकर में भी बताये गये है। इसमें 'कूटकार' के स्थान पर 'अनुकार' शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु दोनों के लक्षण समान है। पुनः सोमेश्वर ने गायकों के विशेष गुण बताये है।

गायकों के वर्णन के पश्चात् सोमेश्वर ने गमक के सप्त प्रकारों का लक्षण बताया है। सप्त गमकों के नाम क्रमशः **स्फुरित, कम्पित, लीन, आन्दोलित, तिरिप, आहत और त्रिभिन्न** है। इनका लक्षण भी गीत विनोद के श्लोक संख्या- 66 से 72 तक में बताया गया है।

इन सप्त गमकों के लक्षणों का वर्णन सोमेश्वर के पश्चात् पार्श्वदेव के 'संगीत समयसार' तथा शुभंकर के 'संगीतसार' में भी मिलता है। सप्त गायकों की धारणा प्राप्त ग्रन्थों में सर्वप्रथम मानसोल्लास में मिलता है। इसके पूर्व सम्भवतः **'सरस्वतीहृदयालंकारहार'** गमक शब्द बृहद्देशी में प्राप्त है, जो मुझे प्रो. एन. रामनाथन जी द्वारा ई-मेल के माध्यम से एक साक्षात्कार में प्राप्त हो सका है। सोमेश्वर के पश्चात् संगीत रत्नाकर में शारंगदेव ने 15 प्रकार के गमक तथा उनके लक्षण बतायें है। जिनके नाम क्रमशः- 1. तिरिप, 2. स्फुरित, 3. कम्पित, 4. लीन, 5. आन्दोलित, 6. वलि, 7. त्रिभिन्न, 8. कुरूल, 9. आहत, 10. उल्लासित, 11. हुम्फित, 12. प्लावित, 13. मुद्रित, 14. नामित, 15. मिश्रित है। इस प्रकार स्पष्ट है, कि शारंगदेव ने जिन 15 प्रकार के गमकों का उल्लेख किया है, उनमें सात प्रकार के गमक सोमेश्वर के मतानुसार ही दिये हुए है, तथा 8 उनके अपने हैं।

सोमेश्वर ने गायकों के गुण आदि का वर्णन अपने ग्रन्थ में कई स्थानों पर किया है। अतः गमक के लक्षण कहने के पश्चात् गमक के प्रयोग में कुशल गायक के लक्षणादि का वर्णन किया है।

सोमेश्वर ने ध्वनि के भेद तथा गुण का उल्लेख करते हुए कहा है, कि 'वेणु या वीणा के समान नाद गायन में प्रयोग होता है। इन्होंने कोकिला के समान नाद को 'मधुर ध्वनि' कहा है। उच्च स्थान पर गाये जाने के बाद भी जो नाद श्रव्य हो, अर्थात् सुनने में अच्छा लगे, उस स्निग्ध, अकृष्य, गम्भीर ध्वनि को 'धन' कहा है। वृन्द के मध्य में स्थित होने पर भी

जो नाद दूर तक सुनायी दे, माधुर्य आदि गुणों से युक्त हो उसे 'श्रावक' ध्वनि कहा है। इसके बाद पुनः गायक के गुण आदि का वर्णन करते हुए गायक के सात महागुण बतायें हैं जो इस प्रकार है-

1. शरीर, 2. ध्वनि, 3. मेधा, 4. प्रौढ़ता, 5. गमकों में कुशलता, 6. तालज्ञता एवं 7. निर्भयता।

इस प्रकार हम देखते है कि सोमेश्वर ने गायकों के गुण-दोषों के आधार पर अनेक प्रकार से गायकों के उत्तम, मध्यम आदि लक्षणों का उल्लेख किया हैं। सोमेश्वर ने 'मानसोल्लास' के गीत विनोद में वादकों की श्रेणियों का विभाजन करते हुए वांशिक, पाणविक तथा हौडुक्लिक नामक पादकों को श्रेष्ठ, भार्दगिंक आदि को मध्यम तथा इसके अतिरिक्ति अन्य विद्वानों को विलक्षण गायक-वादकों की श्रेणी में रखा है। इसके बाद सोमेश्वर ने वाग्गेयकार इत्यादि के बैठने की व्यवस्था बतायी है। इनके अनुसार ''सर्वप्रथम वाग्गेयकार बैठेगा, उसके बाद सुकण्ठी गायिकायें बैठेंगी तथा अन्त में पाणविक तथा पाटहिक को बैठाने के बाद, गीत प्रारम्भ करने का विधान बताया है।''

यहाँ सोमेश्वर ने गीत के लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा है, कि स्वर, ताल, पद के समन्वय से युक्त, निरन्तर रस भावों से युक्त, श्रोता के सुनाने योग्य गेय रचना 'गीत' है। सोमेश्वर ने अपने ग्रन्थ में 12 प्रकार के गीतों का उल्लेख किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं-

1. सम 2. व्यक्त 3. मधुर 4. विकृष्ट 5. उत्साहपूर्ण 6. करूण 7. परिहासपरक 8. आध्यात्म 9. मंगल 10. स्त्रोत 11. विषय 12. समन्वित।

इनमें से प्रथम चार प्रकारों का उल्लेख नाट्यशास्त्र में मिलता है, बाकी सोमेश्वर के मौलिक धारणा प्रतीत होते हैं। सोमेश्वर ने इन सभी गीत प्रकारों के लक्षण भी गीत विनोद के श्लोक संख्या 99 से 110 तक में बतायें है।

गीत के लक्षण के पश्चात् सोमेश्वर ने देशी रागों के नाम तथा लक्षण आदि का वर्णन किया है। रागों के विषय में सोमेश्वर ने कहा है, कि विभिन्न देशों के नाम से युक्त विनोद के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले मनोहर राग ही 'देशी' राग हैं। इन रागों को सोमेश्वर ने शुद्ध, भिन्न, गौड़ तथा साधारण आदि जातियों में विभक्त किया हैं। जिनमें पांच शुद्ध, पांच भिन्न, तीन गौड़ तथा सात साधारण कुल 20 राग हैं। ये राग विनोद में प्रयुक्त नहीं होते थे, इसी कारण इनके लक्षण नहीं बताकर केवल नाम ही बताये हैं। तत्पश्चात् रागों के लगभग दस लक्षणों को ध्यान में रखते हुए पुनः विनोद में प्रयुक्त होने वाले लगभग 52 देशी रागों के नाम तथा संक्षिप्त लक्षण भी बतायें है।

रागों के बाद सोमेश्वर ने प्रबन्ध, छन्द, गद्य आदि के लक्षणों का उल्लेख किया है। सोमेश्वर ने किसी विशिष्ट क्रमबद्ध रूप में प्रबन्धों को न बताकर एक ही साथ प्रबन्धों को एक के बाद एक बता दिया है। प्रबन्धों का निरूपण प्रबन्धों में प्रयुक्त प्रबन्धांग, पद, पाट, छन्द के नियम, ताल, स्वर इत्यादि को आधार मानकर बतायें है। प्रत्येक प्रबन्ध को बताने के पूर्व उसका छन्द तत्पश्चात् उसका उदाहरण संस्कृत भाषा में दिया गया है। ''इन प्रबन्धों को गाने में भाषा का नियम नहीं हैं, किन्तु मैंने संस्कृत वाणी में ही उदाहरण दिया है।'' ऐसा सोमेश्वर ने कहा है।

इस ग्रन्थ के 'गीत विनोद' में प्रबन्ध के विषय में कुछ श्लोकों की पुनरावृत्ति श्लोक संख्या 360 से 567 में किया गया है। रागों के संदर्भ में यह कह सकते है कि तत्कालीन समाज में ग्राम रागों का प्रचलन लोक में नहीं था, बल्कि केवल देशी रागों को ही विनोद के लिए प्रयोग किया जाता था। अतः सोमेश्वर ने अपने ग्रन्थ में ग्राम रागों को नहीं बताया है। छन्दों का वर्णन इस ग्रन्थ में संगीत के सन्दर्भ में किया गया है, तथा प्रबन्धों को बतानें के साथ ही साथ प्रत्येक प्रबन्धों का छन्द भी बताया गया है।

इस ग्रन्थ में कुछ नई बातें जैसे- गमक के सप्त प्रकार, छन्दों के उदाहरण, प्रबन्धों के उदाहरण,

श्रोता के रूचिअनुसार गीत के भेद इत्यादि का विस्तृत वर्णन सोमेश्वर ने किया है।

अतः 'गीत विनोद' के संक्षिप्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'मानसोल्लास' अन्य विषयों के साथ-साथ संगीत का भी एक बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। जिसका प्रमाण परवर्ती ग्रन्थों में स्पष्टतया प्राप्त होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :-

1. श्री गोण्डेकर, जी.के. सम्पा., मानसोल्लास भाग-3, गायकवाड़ मोरिएण्टल सीरीज, बड़ोदा, 1961 ई.।
2. चौधरी, डॉ. सुभद्रा सम्पा., संगीत रत्नाकर भाग-2, सरस्वती व्याख्या अनुवाद सहित।
3. बृहस्पति, आचार्य कैलाश चन्द्रदेव, संगीत समयसार, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण, 2006 ई.।
4. मिश्र, डॉ. शिवशेखर, सोमेश्वर कृत मानसोल्लास : एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी प्रथम संस्करण संवत् 2023।
5. शर्मा, अमल दास, विश्वसंगीत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1990 ई.।
6. गुप्ता लिपिकादास, भारतीय संगीत शास्त्र ग्रन्थ परम्परा : एक अध्ययन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण-2009 ई.।
7. श्रीवास्तव, के.सी., प्राचीन भारत का इतिहास, युनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद, नवम् आवृत्ति, 2004ई.-.5 ई.।
8. सिंह, मणिकान्त, प्राचीन भारत, भाग-2, द स्टडी पब्लिकेशन।

भारतीय संगीत में संगीत सम्राट तानसेन का योगदान

सुरेखा रानी

किसी भी देश और समय की सीमाओं से परे होती है कला और अमर होते हैं उनके साधक कलाकार। कितना भी समय क्यों न व्यतीत हो जाए, सच्चे कलाकार अमर होते हैं तथा अपने साथ-साथ अपनी कला को भी सदा के लिए अमर कर देते हैं। ऐसे ही अमर कलाकारों में से एक है ''संगीत सम्राट तानसेन''।

अमर गायक और ध्रुपद के सृष्टा रचनाकार के रूप में तानसेन का नाम हिन्दुस्तानी संगीत के विकास एवं पुनरूत्थान के इतिहास में अद्वितीय है। गायक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा अभूतपूर्व तो थी ही एक महान रचनाकार के रूप में भी उन्होंने असंख्य ध्रुपदों की रचना द्वारा अमिट ख्याति अर्जित की।

संगीत सम्राट तानसेन द्वारा रचित ध्रुपद रचनाएं अपनी भक्ति प्रधानता के कारण विष्णुपद मंदिरों में निखरी और भक्ति के माध्यम से देशभर में छा गई। लौकिक श्रृंगार प्रधानता के कारण विभिन्न मुस्लिम दरबारों के फली-फूली। अपनी सरल एवं माधुर्यपूर्ण लोकभाषा से जन-साधारण में प्रचलित हुई। इस प्रकार तानसेन द्वारा रचित असंख्य ध्रुपदों द्वारा ध्रुपद शैली का प्रचार एवं प्रसार न केवल ग्वालियर तक ही सीमित रहा अपितु देश के लगभग सभी प्रांतों में प्रचुरता से हुआ। इनकी लोकप्रियता संगीत के प्रकाण्ड विद्वानों से लेकर जन-साधारण तक में हुई।

तानसेन ने विभिन्न राग-रागिनियों में असंख्य पदों की रचना की है जो कि प्रत्येक मौका, ऋतु और रस के लिए उपयुक्त थे। उन्होंने भक्त मण्डली के लिए ईश्वर आराधना के ध्रुपद बनाए। ऋतुओं के अनुसार वर्षा, वसन्त, होली आदि के पद बनाये राजाओं के गुणों का वर्णन करते हुए उनके सद्गुणों को बढ़ावा और प्रेरणा दी। मुगल दरबार के विलासप्रियता को ध्यान में रखते हुए उनके श्रृंगारिक पदों की रचना की । भारत वर्ष में मनाए जाने वाले दशहरा, मदनोत्सव होली आदि पर्वों के लिए भी उन्होंने पद रचे थे। इस प्रकार उन्होंने सभी वर्ग के लोगों के लिए उनकी रूचि के अनुसार पदों की रचना की। यह ध्रुपद इतने प्रभावशाली, चमत्कारपूर्ण एवं अद्वितीय बन पड़े कि राज दरबार से लेकर जन साधारण तक को अत्यंत प्रभावित किया। एक ओर जहां उन्होंने अपने स्वयं रचित ध्रुपद गायन से लुप्त प्राय होते हुए भारतीय संगीत को पुनर्जीवित किया वहीं दूसरी ओर राजा मानसिंह द्वारा प्रवर्तित ध्रुपद शैली की अपनी ध्रुपद रचनाओं के द्वारा जनसाधारण में लोकप्रिय बनाकर चिरस्थापित्व प्रदान किया। उनके ध्रुपद रचनाओं की लोकप्रियता एवं महत्ता इसी बात से परिलक्षित होती है कि लगभग 500 वर्ष पूर्व रचे हुए उनके असंख्य ध्रुपद आज तक प्रचलित है एवं विभिन्न विद्वानों द्वारा गाये जा रहे हैं।

तानसेन द्वारा आविष्कृत राग :

नवीन रागों का उल्लेख बहुत से शास्त्रकारों ने एवं इतिहासकारों ने अपने ग्रंथों में किया है। जिसमें मियां की मल्हार, मियां की सारंग, मियां की तोड़ी, दरबारी कान्हड़ा, मेघ आदि प्रमुख राग तानसेन द्वारा आविष्कृत बताये गए हैं।

शोध छात्रा, संगीत एवं मंच कला संकाय, एम.एस. यूनिवर्सिटी, बड़ौदा

फकिरूल्ला के मतानुसार मियां तानसेन ने मल्हार और कान्ड़ा को मिलाया तथा कानड़ा में कल्याण मिला दिया आसावरी में देव गांधारी मिला दिया, कानड़ा का दरबारी कान्ड़ा नाम रख दिया और दूसरों के नाम भुला दिये। अर्थात् यह सब दरबारी नाम से प्रसिद्ध है। दरबारी कल्याण और दरबारी आसावरी नाम उस समय से प्रचलित हुए जब तानसेन अकबर बादशाह के दरबार में समाहत हुए और इन रागों को दरबारी ठाठ से गाने लगे। ''सहसरस'' के अनुसार तानसेन का कण्ठ स्वर अत्यंत पुष्ट और पारदार था। वे मूर्च्छना पद्धति तथा मुकाम पद्धति के कुशल ज्ञाता थे। भारतीय और ईरानी संगीत शैलियों के समीक्षण से नवीन दरबारी तर्ज का सृजन तानसेन की विशेष देन है।

तानसेन द्वारा आविष्कृत वाद्य :

रूद्रवीणा और रबाब जैसे वाद्यों के अविष्कारक भी तानसेन को ही माना जाता है। रबाब, सारंगी और सितार मिलता-जुलता बाजा है। इसके आविष्कार का श्रेय तानसेन को जाता है। तानसेन के गायक होते हुए भी वाद्ययंत्र के क्षेत्र में उनका योगदान सामान्य नहीं है। रबाब या रूद्रवीणा उनका प्रतिभा प्रसूत है। तानसेन की इस अपूर्व सृष्टि से उनके वंश में वाद्ययंत्र संगीत का एक ऐसी नवीन धारा का प्रवर्तन हुआ, जो प्राचीन भारत के वीणाकारों में भी नहीं मिलता। तानसेन स्वयं उत्कृष्ट रबाब-वादक थे। अतः यह स्पष्टतया प्रमाणित होता है कि रबाब और रूद्रवीणा के आविष्कारक तानसेन ही थे। यह दोनों वाद्य भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी अत्यंत लोकप्रिय है। तानसेन ने कुछ न कुछ नवीनता खोजते रहने की प्रवृति के कारण इन वाद्यों का आविष्कार कर भारतीय संगीत के विकास में अपना बहुमूल्य योगदान दिया है।

तानसेन द्वारा रचित ग्रंथ :

तानसेन की प्रमुख रचना ध्रुवपद है जो लिखित तथा मौलिक रूप में उपलब्ध है। लिखित रूप में संगीत के विविध ग्रंथों में बिखरे पड़े हैं और अलिखित रूप में वे पुराने घरानों से संबंधित कलावन्तों को कंठस्थ है।

तानसेन ने संगीत शास्त्र पर आधारित तीन ग्रंथों की रचना की थी। जिनका उल्लेख मिश्र बन्धु विनोद में पाया जाता है। उनके नाम है :

1. संगीत सार
2. रागमाला
3. गणेश स्त्रोत

संगीत सार :- संगीतसार की एक हस्तलिखित प्रति दरबार पुस्तकालय, रीवा के सरस्वती भंडार में सुरक्षित है। सम्पूर्ण ग्रंथ अधिकतर दोहा छन्द में है। जिसकी संख्या 184 है। इसके अतिरिक्त इसमें एक कवीत्त तथा एक सवैया भी है। इस ग्रंथ में तानसेन ने संगीत के विविध अंगों का वर्णन किया है। ग्रंथ में वंदना के पश्चात संगीत के दो प्रकार, नाद-लक्षण, इडादि लक्षण, ब्रह्म ग्रंथि, श्रुति स्वर, सप्तक, आरोही, अवरोही लक्षण, शुद्ध तान विवेक, कूटतान लक्षण, ग्राम लक्षण, औड़व-षाड़व भेद, स्वर अंतर, मूर्च्छना और उनके लक्षण, राग-रागिनियों की उत्पत्ति विषयक प्राचीन मत, वाद्य एवं उनके भिन्न नाम एवं प्रकार गायन दोष और गायन गुण के लक्षण, स्वर साधारण, जाति साधारण, आदि विषय वर्णित हैं। वैसे इस ग्रंथ की विशेषता ''तालाध्याय'' में विहित है। इस अध्याय के ताल, उनके सात अंगनाम, प्रत्येक की निश्चित मात्रा, मात्रा के स्वामी या देवता, उनके चिह्न एवं भेद आदि का अत्यंत विस्तृत एवं विवेचनात्मक विश्लेषण किया गया है।

रागमाला :- इस ग्रंथ में शास्त्र से संबंधित आवश्यक वर्णन करने के उपरांत संगीत की व्याख्या, संगीत लक्षण, संगीत के प्रकार, नाद शक्ति, श्रुति लक्षण, सुषुम्ना नाड़ियों के नाम एवं उनके स्थान वर्णन, आहत-अनाहत लक्षण, इंगला पिंगला, ग्राम, स्वर, तान विवेक, औड़व तान, कूट तान, षाड़व तान आदि।

साधारण स्वर, रागांग-भाषांग-क्रियांग एवं उपांग की व्याख्या, गायकों के प्रकार, राग के दस लक्षण, राग के तीन भेद, सप्त स्वर, राग आलाप, गमक के साथ ही गायक के गुण-अवगुण का भी वर्णन रागमाला

में मिलता है। इसके अतिरिक्त संगीत शास्त्र की अन्य जानकारी देने के उपरांत ग्रंथकार ने राग संकीर्णाध्याय के अंतर्गत विविध राग-रागिनियों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। यही इस ग्रंथ की विशेषता है।

गणेश स्त्रोत :- तानसेन रचित यह ग्रंथ अप्राप्त है। इस ग्रंथ का उल्लेख केवल मिश्र-बन्धु-विनोद में मिलता है। इस ग्रंथ के प्राप्त होने पर संगीत संबंधी एवं तानसेन के व्यक्तिगत जीवन संबंधी अन्य जानकारी प्रकाश में आने की संभावना ही है। तानसेन ने समय की पुकार को देखते हुए, तत्कालीन सांगीतिक वातावरण एवं जनसाधारण की रूचि को देखते हुए, भारतीय संगीत में नवीन रागों, वाद्यों तथा ग्रंथों के रचनाकार भारतीय संगीत को जनसाधारण में जिस प्रकार लोकप्रिय बनाया तथा उसका प्रचार-प्रसार किया वह भारतीय संगीत के इतिहास में मील के पत्थर के समान स्थापित हो चुका है। वास्तविकता तो यह है कि भारतीय संगीत में तानसेन का योगदान इतना अपरिमित, अमूल्य तथा सर्वोपरि है कि उसे भाषाबद्ध करना ही संभव नहीं है।

संदर्भ सूची :

1. अली डॉ. असद, भक्तिकालीन साहित्य पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव।
2. पोपले एच.ए., द म्यूजिक ऑफ इंडिया।
3. चौधुरी विरेन्द्र किशोर राय, हिन्दुस्तानी संगीत में तानसेन का स्थान।
4. मित्तल प्रभुदयाल, संगीत सम्राट तानसेन
5. बांगरे डॉ. अरूण महादेवराव, ग्वालियर की संगीत परंपरा
6. आचार्य बृहस्पति, खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार।

नवीन तकनीकी एवं प्रयोगों से प्रभावित कलाकार एवं सांगीतिक वाद्य यंत्र

पूजा द्विवेदी

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। विज्ञान के अविष्कारों ने इस युग को बहुत प्रभावित किया है। प्रतिदिन कोई न कोई अविष्कार होता ही रहता है। इसमें कुछ ऐसे भी उपकरण होते है जिनके संगीत की शिक्षा, कलाकरों एवं वाद्य यंत्रे पर प्रभावित करते है। ऐतिहासिक दृष्टि से यदि भारतीय संगीत के उद्‌भव पोषण और विकास का आकलन किया जाए तो प्राचीन काल संगीत के उद्‌भव का समय था। जिसका पोषण आश्रमों एवं आरण्यों के बीच नाद ब्रहम उपासना के बीच हुआ था। मध्य काल संगीत की साधना या रियाजी काल था जिसमें विभिन्न प्रकार की गायन शैलियों वाद्‌यों और एक से एक नामचीन कलाकारों का प्रार्दुभाव हुआ। इसलिए मध्य काल संगीत का स्वर्ण युग था। अतः सभी कालों मे गुरू शिष्य परम्परा द्वारा हुआ और आज तक होता चला आ रहा है। विद्यालय एवं महाविद्यालयों तथा संगीत की संस्थाओं में संगीत की शिक्षा सामूहिक रूप से गुरू द्वारा दी जाती है। अतएव गुरू शिष्य द्वारा संगीत की तालीम आवश्यक है। आधुनिक काल संगीत के प्रचार-प्रसार का समय है। अतः संगीत एक प्रयोगिक कला है जिसके प्रचार प्रसार के लिए आकाशवाणी दूरदर्शन, ग्रामो फोन, टेप रिकार्डर कम्प्यूटर, सीडी अनेक वैज्ञानिक उपकरण सहायक हुए है।

जिस प्रकार वैज्ञानिक तकनीकी का प्रभाव चिकित्सा, दूरसंचार, यातायात तथा शिक्षा आदि पर पड़ा है। उसी प्रकार संगीत पर भी पड़ा है फिर चाहे वह कलाकारों पर हो शिक्षण पर हो या वाद्य यंत्रों पर हो सभी पर आज के समय में नवीन तकनीकी का प्रभाव पड़ा है। कला रियासतों की शोभा थी किन्तु शैनेः शैनेः विज्ञान के अविष्कारों से यह भी प्रभावित हुए बिना न रह सकी। वैज्ञानिक तकनीकी से बनाए गए उपकरण ग्रामो फोन टेप रिकार्डर दूरदर्शन, जैसे उपकरण संगीत को प्रभावित किया। जिसके कारण इस कला का सर्वाधिक विकास एवं प्रचार-प्रसार हुआ। संगीत पर और संगीत के कलाकारों पर नवीन तकनीकी का जिस प्रकार ग्रभाव पड़ा वह निम्न है-:

सर्वप्रथम ग्रामोफोन के प्रयोग से ध्वनि मुद्रण में तीव्रता आई तथा गायन वादन के कलाकारों की कला को सुरक्षित रखना सम्भव हो सका। अनेक यूरोपियन एवं अमेरिकन बनावट के यंत्र ग्रमोफोन, फोनोग्राम चूड़ियों वाली ध्वनि मुद्रिकाओं से लेकर 7, 10, एवं 12 इंच वालें व्यास के सपाट एवं एक ही तरफ गाने वाली नाक की ध्वनि मुद्रिकाओं ने भारत के बड़े-बड़े शहरों में तथा उच्च समाज में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया था। अनेक ग्रामोंफोन कम्पनियों ने रिकाडर्स बनाए। भारतीय कलाकारों का भी ध्वनि मुद्रण इन्ही विदेशी कम्पनियों ने सर्व प्रथम किया। अनेक विदेशी कम्पनियों ने विदेशो के अतिरिक्त भारत में भी कम्पनियों की शाखा खोली जैसे-कोलम्बिया आदि। सभी कम्पनियों ने शास्त्रीय

शोध छात्रा, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

संगीत के अनेक कलाकारों के रिकार्ड बनाए जो आज भी संगीत के अमूल धरोहर के रूप में विद्यमान है। कलकत्ते की गौहरजान के एक रिकार्ड के अन्त में वे बोलती हुई सुनाई देती है। 'My Name is Gauharjan' और राग केदार के एक रिकार्ड में वह यह भी बताती है कि यह एक नई बन्दिश है। आगरे वाली मलका जान तो अपना पता भी स्वयं बोल कर बताती है। अलादिया खां की शिष्या केसर बाई केरकर और हैदर खां की शिष्या लक्ष्मी बाई जाधव के रिकार्डो के लिए भी रिकार्डिंग कम्पनियॉ धन्यवाद की पात्र है। इनके अतिरिक्त अब्दुल करीम खां, कयास खां, बड़े गुलाम अली खां इत्यादि के रिकार्ड बने हैं। शास्त्रीय संगीत के लगभग सभी ख्यातिमान कलाकारों के रिकार्ड बने हैं। ऐसा नहीं लगता यह भी सम्भव है कि कुछ बड़े कलाकारों ने घरानों की परम्परा को कायम रखते हुए अपने रिकार्ड नहीं बनवाए। किन्तु ख्यातिमान कलाकारों के रिकार्ड बने हैं। अतः पुरानी बन्दिशों और अप्रचलित हो चले रागो की दृष्टि से भी शास्त्रीय संगीत के इन पुराने रिकार्डो का विशेष स्थान है। शास्त्रीय संगीत में गायन के साथ-साथ वाद्य संगीत के भी रिकार्ड बने हैं।

अकाशवाणी संगीत के लिए वरदान सिद्ध हुआ है। अकाशवाणी को अंग्रेजी भाषा में रेडियों भी कहते हैं। 19वी शाताब्दी में रेडियों की चर्चा भी शुरू हो गयी। उस समय हुआ जब कि स्काटलैण्ड के वैज्ञानिक जेम्स क्लार्क मैक्सवेल ने गणित के द्वारा सिद्ध कर दिया कि प्रकाश की भाति विद्युत भी चुंबकीय की तरंगो पर आधारित है 1894-95 के बीच कुछ देशी व विदेशी वैज्ञानिकों के प्रयास से समाचार प्रसारित करने की विधि खोजी गई किन्तु रेडियो को आधुनिक रूप देने की इटली के वैज्ञानिक मारकोनी के प्रयासों को भुलाया नहीं जा सकता। अतः संगीत के प्रचार-प्रसार और कलाकारों को ख्याति प्रदान करने में रेडियो का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा। सर्वप्रथम 16 मई 1924 ई0 रेडियो के माध्यम से संगीत प्रसारण शुरू हुआ। प्रत्येक शनिवार को आकाशवाणी में संगीत का "अखिल भारतीय कार्यक्रम" तथा प्रत्येक वर्ष "आकाशवाणी प्रतियोगिता" आयोजित होती है। आज देश के प्रसारण केन्द्रो की संख्या 130 से अधिक हो गई है। इसके माध्यम से संगीत श्रोता घर बैठे श्रेष्ठ कलाकारों का संगीत सुन सकते हैं। अकाशवाणी के द्वारा नए कलाकारों को नया मंच मिला है। इनके कलाकारों को भिन्न-भिन्न श्रेणियों मे विभाजित किया जाता है। जैसे-ग्रेट ए, बी हाई, बी इत्यादि। दिल्ली एक केन्द्र से रविवार रात्रि को प्रसारित होने वाला चयन कार्यक्रम भी काफी लोकप्रिय हुआ इसके अतिरिक्त टेलीविजन भी संगीत के प्रचार-प्रसार में काफी सहायक सिद्ध हुआ। टेलीविजन में हम संगीत प्रदर्शन में कलाकारों को सुनने के साथ-साथ उनको देख भी सकते है। जिसका प्रभाव श्रोता पर विशेष पड़ता है। सभी चैनलो में अलग-अलग कार्यक्रम प्रसारित होते है। संगीत में युवा प्रतिभाव को खोजने के लिए सारेगामापा जैसे कार्यक्रम बहुत उपयोगी है। टेलीविजन के दूरदर्शन ने अनेक शास्त्री गायक व वादक कलाकारों को मंच प्रदान किया तथा उससे श्रोतागण लाभान्वित भी हुए।

अब हम संगीत की शिक्षा में उपयोगी एक अन्य उपकरण की चर्चा करेगें। जिसे मैट्रो नोन कहते है यह यंत्र घड़ी के आकार का बना होता है। इसकी गति घटाई व बढ़ाई जा सकती है। प्रायः विद्यार्थी अभ्यास करते समय अपनी लय भूल जाते है। प्रत्येक समय किसी मार्ग दर्शक व शिक्षा का उपलब्ध होता संभव नही। ऐसे में मैट्रोनोम काफी उपयोगी सिद्ध हुआ। आज कम्प्यूटर भी संगीत के प्रचार प्रसार तथा कलाकारो का ख्याति प्रदान करने में सहायक हो रहा है। कम्प्यूटर में इंटरनेट के माध्यम से उच्च कोटि के कलाकारों की कला का रसा स्वादन कर सकते हैं। तथा उनसे सम्पर्क बना सकते हैं। कम्प्यूटर के माध्यम से संगीत जैसे प्रायोगिक कला को दूरस्थ शिक्षा से जोड़ा गया है। इसमें कलाकार अपने रिकार्ड यू टूब पर लोड करके अपनी कला का परिचय देते हैं। इसके माध्यम से हम देश विदेश की सांगीतिक कला का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार अनेक वैज्ञानिक उपकरण संगीत के कलाकरों एवं शिक्षार्थियों के लिए लाभान्वित हो रहे हैं।

वाद्य यंत्र -: वैज्ञानिक तकनीकी का प्रभाव हमारे वाद्य यंत्रो पर भी पड़ा। संगीत के वाद्य यंत्रो के मुख्य दो रूप हैं-

1. स्वतंत्र वादन के लिए
2. गायन नृत्य इत्यादि अन्य विधाओं के साथ अन्य विधाओं के साथ स्वर ताल की संगति प्रदान करने के लिए।

वर्तमान युग मशीनरी करण एवं कम्प्यूटरीकरण का युग है अतः संगीत भी इससे अछूता नहीं रह पाया। इससे संगीतिक वाद्य यंत्रों का निर्माण होने लगा जैसे-

1. **इलेक्ट्रानिक तानपुरा**- इस तानपुरे में विभिन्न स्केल को मिलाने के लिए बटन होते हैं तथा टैम्पो का बढ़ाने घटाने के लिए अलग बटन होता है। बिजली के अतिरिक्त इन्हें बैटरी द्वारा भी संचालित किया जा सकता है।

2. **इलेक्ट्रानिक तबला**- इसमें स्वर मिलाने दाहिने और बाए तबले की आवाज के संतुलन के लिए लय, बढ़ाने या घटाने के लिए अलग बटन होते हैं। विभिन्न प्रकार के ठेके व उनके प्रकार बनाने की व्यवस्था होती है।

3. **इलेक्ट्रानिक स्वर मण्डल**- इसमें 16 ताल होते हैं। इसे प्रयोग करना अत्यन्त सरल है। 12 स्वरों में तारों को मिलाने की व्यवस्था भी सरल है।

4. **लहरा मशीन** - इसमें हारमोनियम की आवाज में कई रागों की लहरें सेट होते हैं। जिन्हें विभिन्न अलग-अलग तालों के साथ आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जा सकता है।

5. **इलेक्ट्रानिक वीणा**- इसमें अन्य इलेक्ट्रानिक वाद्य यंत्रों की तरह इसे प्रयोग करना अत्यन्त सरल है।

अतः इस प्रकार नवीन तकनीकी के प्रयोग द्वारा जिसे कलाकार व संगीत का प्रचार-प्रसार हुआ जिससे कलाकार व शिक्षार्थी दोनों लाभान्वित हुए। अतः वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयोग की एक सीमा निर्धारित करना आवश्यक है इन उपकरणों पर हम इतने आंशिक हो जाएं कि संगीत की मौलिकता को ही भूल जाए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

पुस्तक लेखक/लेखिका प्रकाशक/संस्करण

1. शर्मा डा. महारानी, संगीतमणि भाग श्री भुवनेश्वरी प्रकाशन, इला. संस्करण 2012
2. शर्मा डा. स्वतंत्र, भारतीय संगीत एक, संस्करण 1995
   ऐतिहासिक विश्लेषण टी.एन. भार्गव एण्ड सन्स इलाहाबाद।
3. चन्द्र आचार्य गिरीश, लय ताल विचार मंथन, रूबी प्रकाशन श्रीवास्तव इलाहाबाद संस्करण 2010

संगीत शास्त्र और परंपरा

प्रीति मिश्रा

संगीत की व्याख्या मानव के शब्दों में नहीं गूंथ पाती है, किंतु छुई-मुई सी सुकोमल मानव के मानस तंत्री स्थिति विशेष में जहां से झंकृत हो उठती है, वहीं से संगीत का जन्म होता है। "संगीत का संबंध जीवन के प्रत्येक पहलुओं से है।" संगीत का जन्म कैसे हुआ, इसके संबंध में विद्वानों के विभिन्न मत पाए गए हैं। कहा गया है कि संगीत पहले ब्रह्मा जी के पास था और अंत में नारद जी के द्वारा संगीत का प्रचार इस पृथ्वी पर हुआ। ब्रह्मा जी ने यह कला शिवजी को दी और तत्पश्चात् यह शिवजी के द्वारा सरस्वती को प्राप्त हुई। ऐसी मान्यता है कि इसी कारण मां सरस्वती को 'वीणा पुस्तक धारिणी' कह कर संगीत और साहित्य की अधिष्ठात्री माना है। साथ-साथ देवी सरस्वती से नारद को, नारद से स्वर्ग के गंधर्व, किन्नर एवं अप्सराओं को यह विद्या प्राप्त हुई।"[1]

प्राचीन विद्वानों ने स्वरोत्पत्ति का माध्यम पक्षियों को माना है। सुप्रसिद्ध विद्वान श्री दामोदर पंडित ने संगीत की उत्पत्ति निम्न पशुओं और पक्षियों से मानी है। जैसे-

मोर से षड्ज
चातक से ऋषभ
बकरे से गांधार
कौए से मध्यम
कोयल से पंचम
मेढ़क से धैवत तथा
हाथी से निषाद की उत्पत्ति बतलायी है।

मानव संगीत मानव जीवन से संबंधित आनंद तत्व है, जिससे मानव द्वारा अपने भावों की अभिव्यक्ति नृत्य, वाद्य एवं गायन के माध्यम से करता है।

प्राचीन काल से ही संगीत का प्रयोग परंपरागत रूप में किया जा रहा है। संगीत शब्द सम्गीत से बना है। इसकी व्याख्या 'सम्यक गीतः संगीतः' इस प्रकार की जाती है। 'सम, सम्पूर्णता का बोध कराता है। संगीत शास्त्र का उद्गम स्थल सामवेद है। वैदिक काल से यज्ञादि अवसरों पर सामगायन करने की विशेष प्रथा थी और ये शब्दों में निबद्ध हुआ करते थे। यही सामगायन करने की विशेष प्रथा थी और ये शब्दों में निबद्ध हुआ करते थे। यही सामगायन में समय पाकर आधुनिक शास्त्रीय संगीत के रूप में परिवर्तित हो गए। ऋषियों ने आत्मचिंतन किया और अपने अनुभव के आधार पर शास्त्र का रूप दे दिया। संगीत तो पहले से था ही, शास्त्र का आवरण भी इन्हें मिला।"[2]

भारतीय संगीत की परंपरा वेदों से ही आरंभ हो जाती है। वेदों के मंत्रों और सूक्तों में विशेषकर सामवेद उससे संबंद्ध ब्राह्मण-ग्रंथों में संगीत के स्वरूप आधारभूत स्वर, रचना विधि आदि का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया। संगीत शास्त्र के आचार्य हैं 'नारद', जिनके विचार नारदीय शिक्षा के रूप में संकलित है। मौलिकता तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से 'नारदीय शिक्षा' का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें स्वर, ग्राम, राग, तान, गुण-क्षेत्र आदि का

संगीत तकनीशियन, संगीत विभाग, मगध महिला महाविद्यालय, पटना

विस्तृत विवेचन किया गया और संगीत कला का प्रयोजन के साथ साथ संगीत शास्त्र की सार्थकता पर भी प्रकाश डाला गया है।

साहित्य, संगीत और कला समाज जीवनरूपी वृक्ष के तने से निकली तीन शाखाएं हैं। गीत गाने की एक परंपरा है लौकिक और शास्त्रीय। परंपरा में ही लय, स्वर और रागों का विकास हुआ। ''भारतीय संगीत शास्त्र के सामग्री हमें सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र से प्राप्त होते हैं। लेकिन यह सिर्फ संगीत का शास्त्र ग्रंथ न होकर नाट्य ग्रंथ है। इसीलिए नाट्य के अंग के रूप में संगीत के सिद्धांतों का निरूपण हुआ है। वहां संगीत शब्द का प्रयोग नहीं किया, बल्कि 'गांधर्व' की संज्ञा दी है।[3] साहित्य में जो व्याकरण का महत्व है, संगीत में उन नियमों का वही महत्व है, जिसे हम शास्त्र कहते हैं। शास्त्रीय संगीत को दो भागों में बांटा गया है-

1. सैद्धांतिक और
2. व्यावहारिक

सैद्धांतिकः- इस भाग के अंदर संगीत का संपूर्ण शास्त्र आ जाता है, जैसे-संगीत के पारिभाषिक शब्द नाद, श्रुतिः स्वर, सप्तक, थाट राग, आलाप, तान, मींड़, मूर्च्छना तथा गमक आदि।

व्यावहारिकः- कला का सौन्दर्य, उसकी अभिव्यक्ति से निखरता है और संगीत तो 'प्रत्यक्षदर्शी' कला है। शास्त्रीय संगीत के व्यावहारिक अंग में गायन, वादन, नर्तन, गायकी आदि समायोजित है। संगीत शास्त्र के सिद्धांतों और नियमों का वर्णन सर्वप्रथम ऋक् प्रतिसांख्य में मिलता है। इसमें तीन स्थानों और सप्त स्वरों आदि का उल्लेख है।[4]

भारतीय संगीत शास्त्र का इतिहास अति प्राचीन है, यह इसी बात से प्रकट होता है कि जो सिद्धांत, परंपरा सदियों के विकास के परिणाम स्वरूप भरत को प्राप्त हुए, ये ही इतने प्राचीन हैं यहां इतना उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि भारतीय संगीत-शास्त्र का बीज वेदो अंग प्रतिसांख्य और शिक्षा-ग्रंथों में होने से उसकी प्राचीनता और भी ज्यादा कही जा सकती है।[5]

सभ्यता के सभी चरणों में संगीत की यह स्वर-लहरी, किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रही है। इससे हमारे संगीत की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। ईसा के सहस्त्रों वर्ष पूर्व सिंधु-सरिता की उर्वर घाटी में एक अत्यंत एवं समृद्ध सभ्यता का प्रस्फुटन हुआ था। मानव का बौद्धिक विकास की प्राथमिकता में विकसित होनेवाली अनेक सभ्यताओं की भांति सिंधु सभ्यता की सिंधु निवासियों की दीर्घकालीन सांस्कृतिक परंपरा के क्रमिक विकास तथा अंततोगत्वा, चरम परिणति की सूचना देती है। ऐसी उच्च सभ्यता के समाज के बीच संगीत का न होना तो असंभव सा लगता है।

धरती पर सदियों वर्ष पूर्व हड़प्पा-संस्कृति (2,500 ई.पू.) से लेकर हर्ष के शासनकाल तक एवं 7वीं-8वीं शताब्दियों में रचित संगीत शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथ मतंगकृत ''बृहदेशी नारदकृत 'नारदीय शिक्षा' और 'संगीत-मकरन्द' के काल तक सभ्यता के सभी युगों में संगीत की उन्नत अवस्था का परिचायक है। जिसमें गायन, वादन, नृत्य एवं नाट्य को आवश्यकतानुसार महत्व एवं प्रश्रय प्राप्त था। इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में संगीत की परंपरा बहुत प्राचीन है।

भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में निरूपित संगीत के मूलभूत सिद्धांतों को यदि हम विस्तार पूर्वक देखते हैं तो हमें पता चलता है कि ईसा के कई सदियों से पहले ही भारत में संगीत कला और संगीत शास्त्र का विकास इतना हो चुका था। जितना की किसी भी दूसरे देश में उस समय तक नहीं हुआ था।[6] संगीत शास्त्र का निरूपण मानव जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, मानव के व्यवहार और उसके सुख-दुख को व्यक्त करने का माध्यम और अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कराने के लिए किया गया। इस प्रकार संगीत शास्त्र किसी न किसी रूप में मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र से संबंध जरूर रहा।

हमारे यहां के सभी शास्त्रों का मूल उद्देश्य यही है कि अंततोगत्वा मनुष्य के शरीर में निवास

करने वाली आत्मा का परमात्मा से सीधा संबंध स्थापित हो जाए।

आधुनिक युग में भारतीय संगीत शास्त्र में थोड़ा-बहुत काम हुआ है। पिछले 800 वर्षों से संगीतशास्त्र में किसी मौलिक ग्रंथ की रचना नहीं हुई। संगीत राज जैसे विशाल ग्रंथ में प्राचीन सिद्धांतों का निरूपण तो हुआ लेकिन मुस्लिम के प्रभावयुक्त समसामयिक संगीत पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया, इसीलिए तत्कालीन लक्ष्य की कोई जानकारी नहीं मिलती। जो कुछ इने-गिने व्याख्या ग्रंथ लिखे गए, वे शायद लक्ष्य को प्रभावित न कर सके। "प्रायोगिक संगीत गायक, वादकों के पास मौखिक परंपरा से चली आ रही थी, जो अशिक्षित होने के कारण स्वयं लिपिबद्ध नहीं कर सकते थे और करने देना भी नहीं चाहते थे। समाज में संगीत को हेय माना जाने लगा था, इसी कारण इस क्षेत्र में कुछ भी कार्य करना लगभग असंभव ही था[7] और जो लोग इस क्षेत्र में काम करने के लिए आगे बढ़े तो उनमें प्राचीन सिद्धांतों का आधुनिक लक्ष्य से कोई संबंध नहीं है और उनका अध्ययन करना व्यर्थ है। इसके बावजूद प्राचीन सिद्धांतों का निरूपण सबने अपने-अपने तरीके से किया। लेकिन वह उचित रूप में नहीं हो पाया। भारतीय संगीत, शास्त्र में दृष्टिकोण अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति माना गया। यदि हम संगीतशास्त्र की मौलिक विशेषताओं को बनाए रखते हुए विभिन्न क्षेत्रों में काम करें, तो बहुत उपयोगी होगा।

लोक संगीत से लेकर वैदिक संगीत की परंपराओं में जितना विकास परिवर्तन, हमें भारत में प्राप्त होता है, उतना हमें कहीं प्राप्त नहीं होता है। यह बात हमारे लिए बड़ी गौरवपूर्ण है।

निष्कर्ष :-हमने देखा कि जिस-जिस काल में जैसा संगीत रहा, वैसा ही उसका शास्त्र भी बनता रहा। हमारे समाज के कारण जो संगीत में परिवर्तन होते रहे, उसे ही ग्रहण करके उसे शिक्षा व्यवस्था में ढलना पड़ा। भारत को छोड़कर आज ऐसा कोई भी देश नहीं, जहां के सारे देवता गायन, वादन और नृत्य की किसी विद्या में पारंगत हों। साथ-साथ आज भारत में संगीत की व्यापकता का मुख्य कारण भी यही है।

संदर्भ ग्रंथ :

1. जोशी उमेश, भारतीय संगीत का इतिहास
2. जोशी उमेश, भारतीय संगीत का इतिहास
3. गर्ग लक्ष्मी नारायण, संगीत निबंध
4. दास दीपाली, रविन्द्र संगीत की रूपरेखा

स्वर वाद्यों में धुन का प्रचलन

डिम्पल शर्मा

स्वर-वाद्यों में धुन का अति अधिक प्रचलन 20 वीं शती. से दृष्टिगत होता है। 'धुन' शब्द संस्कृति के ध्वनि शब्द का अपभ्रंश रूप है 'धुन' शब्द स्वयं ही ध्वनि की माधुर्याभिव्यक्ति का प्रतीक है। इस प्रकार धुन का अस्तित्व मूलतः किसी बन्दिश से जुड़ा होता है, जैसे- सोहर की धुन, कजरी की धुन, चैती धुन, भटियाली धुन आदि।

प्राचीनकाल के लोकगीतों की धुनों में बहुत कम शब्दों का और स्वरों का प्रयोग अधिक मिलता है। एक ही तरह की धुन को बार-बार दोहराया जाता था। जिसका प्रमुख कारण यह था कि सभ्यता और संस्कृति के विकास के आरंभिक चरणों में भाषा इतनी अधिक विकसित नहीं थी, जितनी वर्तमान समय में है। इसका दूसरा कारण यह है कि 'भाव' लोक संगीत और लोक-कलाओं की आत्मा रही है। मानव मन के भावों को प्रकट करना आदिकाल से चला आ रहा है। अपने हर्ष, उल्लास, विषाद को प्रकट करने के लिए भाषा के अभाव ने जिन ध्वनियों का प्रयोग किया होगा, संभवतः लोक संगीत में प्रयुक्त हो, ओ, हे, जी आदि निरर्थक शब्दों का प्रयोग उसकी प्राचीनता को प्रकट करता है।

आगरा घराने के युनूस हुसैन खाँ साहब के मुख्य शिष्य श्री यशपाल जी, जो एक प्रतिष्ठित गायक कलाकार माने जाते हैं, उनका कथन है- ''धुन की उत्पत्ति मस्ती में चलते हुए गुनगुनाने से हुई और फिर इसके वाद इसी को लोक-संगीत के रूप में ढ़ाल लिया गया।''

समाज में प्रचलित अनेक धुनें धीरे-धीरे लोकप्रिय और परिष्कृत होकर कालांतर में रागों को शास्त्रीय परिधि में आ जाती हैं। राग का सलोक रूप 'धुन' और 'धुनों' का शास्त्रीय रूप राग है। पीलू, बरवा, गारा, झिंझोटी, माँड, इत्यादि अनेक राग है, जो कि अपने पूर्व रूप में लोक धुनें ही थी।

आज विभिन्न वादक कलाकारों ने धुन के प्रचलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जिनके नाम निम्नलिखित हैं- पं0 रविशंकर, उ0 विलायत खाँ, उ0 रईस खाँ, पं0 कार्तिक कुमार, पं0 मणिलाल नाग, पं0 उमा शंकर मिश्रा, पं0 देबू चौधरी, उ0 अली अकबर खाँ, उ0 अन्जत अली खाँ, पं0 विश्वमोहन भट्ट, श्रीमती एन राजम, बी0जी0 जोग, शिवकुमार शर्मा, पं0 हरि प्रसाद चौरसिया, श्री पन्नालाल घोष, रोनू मजूमदार, उ0 बिस्मिल्लाह खाँ इत्यादि कलाकार हुए हैं।

वर्तमान समय में अनेक उच्चकोटि के वादक लोकसंगीत की धुनों का वादन अपने कार्यक्रम के अन्तिम चरण में प्रस्तुत करते हैं। शहनाई पर उ0 बिस्मिल्लाह खाँ की चैती व कजरी, सितार पर उ0 विलायत खाँ की भटियाली, संतूर पर पं0 शिवकुमार शर्मा की डोगरी-लोकगीतों पर आधारित पहाड़ी और सितार पर पं0 देबू चौधरी की पंजाबी लोकगाथा 'हीर' की धुन इत्यादि शास्त्रीय संगीत के श्रोताओं में बहुत प्रसिद्ध है।

प्राचीनकाल में प्रचलित कुछ धुनों के नाम अपने प्रदेश विशेष से सम्बन्धित होते थे जैसे-

शोध छात्रा, दयालबाग शिक्षण संस्थान,संगीत विभाग, दयालबाग, आगरा

'खमाज' या 'खमाच' का मूल 'खंबात' प्रदेश में हैं। 'बिहारी' का सम्बन्ध 'बिहार' से है। 'अहीर भैरव' का सम्बन्ध 'अभीर प्रदेश' से है। 'गौड़-सारंग' का 'गौड़-प्रदेश' से, 'मुलतानी' का पंजाब के 'मुलतान' से व जैनपुरी का नामकरण उत्तर-प्रदेश राज्य के जौनपुर से स्थापित हुआ है।

'राग भैरव' आदिवासियों की पारम्परिक धुन थीं। भैरव जा कि हिमालय की घाटी में आभीर, श्वर, चंडाल, पुलिंद आदि जातियों के साथ रहते थे, का उल्लेख शारदेतनः ने अपनी पुस्तक 'भाव प्रकाशन' में 14 वीं शती. में लिखा है। वह अनारीय थे। संभवतः तीसरी से ग्यारहवीं शती. तक इन धुनों को कुछ सुधार करके आर्य धुनों में मिला लिया गया।

भैरव की भाँति भैरवी भी एक धार्मिक राग था। गुजरात में 'ललितछंद' नाम की काव्य शैली हैं जो कि संस्कृत के 'कमदवृत्त' के सदृश है। इसी घाट के कई राग हैं जैसे- माँड, पहाड़ी, देशकार, कुकुम, आदि जो कि शास्त्रीय राग है जो उनका उद्‌गम लोक धुनों से हुआ है। 'दुर्गा' पहाड़ी का एक रूप है। यह हिमाचल की जनजातियों में आम प्रचलित धुन है।

'राग तोड़ी' यह चरवाहों की देहाती धुन थी। यह तुर्क देश की लोक धुन है, जब तुर्कों ने भारत पर आक्रमण किया तब से इसका प्रचार भारत में हुआ। राग 'गुर्जरी' गुर्जर देश से आई एक विदेशी धुन थी। कुछ लोगों का विचार है कि यह गुर्जरों में प्रचलित राग था। राग 'गौड़' या 'गौड़ी' भी बंगाल से ही उत्पन्न हुआ। गौड़ प्रदेश महाबंगाल की राजधानी थी।

संगीतज्ञों द्वारा किसी धुन का विश्लेषण किए जाने पर और उसका तालमेल परंपरागत किसी विशेष राग के स्वरूप द्वारा पाए जाने पर उसी राग में उस धुन का समावेश हो जाता है जैसे काफी राग में गाई जाने वाली होली की धुन। कुछ धुनें ऐसी होती है जिनमें किसी भी अन्य राग की छाया नहीं होती इसलिए उनको स्वतन्त्रा नाम दे दिया जाता है, जो कि प्रायः उसमें गाए जाने वाले लोकगीत या उस क्षेत्रा से सम्बन्धित होता है जैसे माँड़, पहाड़ी आदि।

वाद्यवृंद की धुनों में उ0 अलाउद्‌दीन खाँ की महत्वपूर्ण देन रही हैं। उन्होंने कई ध्रुवपदों को वाद्यवृंद की धुनों में परिवर्तित कर अपनी रचनात्मक प्रतिभा दर्शाई थी। उनकी वाद्यवृंद की रचनाएँ शास्त्रीय रागों के आधार पर निर्मित्त थी तथा उनमें धुनों का प्रचलन भी हुआ। उनके वाद्यवृंद में राजस्थानी घूमर, माँड़ (केसरिया बालम), कलकत्ता की बाउल धुन एवं मालवा की लोकधुनें सुनने को मिलती है। उ0 अलाउद्‌दीन खाँ ने अंग्रेजी धुनों को भारतीय रागों में बाँधने का प्रयत्न किया उनमें से बिहाग एवं काफी राग है। उन्होंने भारतीय वाद्यों के साथ-साथ आवश्यकतानुसार नए वाद्य भी काम में लिए। इनकी रचनाओं में मुख्य वाद्य सितार बैंजो, वायलिन, इसराज, दिलरूबा, सारंगी, सरोद, जलतरंग, नालतरंग, बाँसुरी, हारमोनियम, पियानो, तबला आदि वाद्यों का प्रयोग किया। उ0 अलाउद्‌दीन के शिष्य पं0 रविशंकर द्वारा रचित वृंदवादन की धुनें भी आज काफी प्रचलन में है। इन्होंने न केवल भारतीय एकता के लिए कार्य किया बल्कि वाद्यवृंद के माध्यम से 'विश्वएकता' का प्रयास भी कर रहे है।

इस प्रकार हम देखते है कि धुनें अनुशासन, एकता, प्रेम, मैत्री, परस्पर सद्‌भाव-सहयोग, सामाजिक-समायोजना, चरित्र-निर्माण आदि भावनाओं को परिपुष्ट करने में मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभावशाली सिद्ध होता हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1. रानी डॉ0 सीमा, स्वर वाद्यों के वादन में ठुमरी
2. जैन डॉ0 प्रभा, भारतीय संगीत के उन्नायक उ0 अलाउद्‌दीन खाँ

पत्र-पत्रिका

1. सुकुमार रे, फोक म्यूजिक ऑफ इस्टर्न इण्डिया, पृ0 82।
2. लोक संगीत अंक, जनवरी 1966।
3. श्रीवास्तव पूर्णिमा, लोकगीतों में समाज, पृ0 24।

गायन की महिमा-श्रीरामचरितमानस के संदर्भ में

सुधा रानी

संगीत प्राचीन काल से ही ईश्वर की आराधना एवं भक्ति में प्रमुखता से सहायक रहा है। पुराणों में भी भगवान विष्णु ने नारदजी से कहा है कि-

"नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद"

तात्पर्य यह है कि ईश्वर का निवास वहीं है जहां उनके भक्त उनके गुणों का गान करते हैं।

श्रीरामचरितमानस में भी भगवान श्रीराम ने सबरी को भक्ति के जो नौ प्रकार बताए हैं उसमें संगीत गान को ही चौथी भक्ति के रूप में स्थान दिया गया है। उन्होंने सबरी से कहा है कि -

"चौथी भगति मम गुनगन करई कपट तजि गान"

अर्थात् भगवान श्रीराम के गुणों का गान छल-कपट रहित होकर अत्यंत प्रेम और श्रद्धा भाव से करना श्रेष्ठ भक्ति है।

श्रीरामचरितमानस में तुलसीदास जी ने श्रीराम का चरित्र गाकर ही रचा और उनका गान करने के लिए पग-पग पर कहा। भगवान श्रीराम का गुणगान भगवान शिव, नारद, गरूड़ कागभुसुंडी, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज आदि सभी ऋषि मुनियों ने किया है। संपूर्ण श्रीरामचरितमानस में 'गान या गायन' का बार-बार प्रयोग करके यह सिद्ध किया गया है कि इस महाकाव्य का गायन ही भगवत भक्ति प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। कुछ स्थलों का दिग्दर्शन :-

बालकाण्ड

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई।
तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई।
राजा रामु अवध रजधानी।
गावत गुन सुर मुनि वरबानी।।
जे गावहिं यह चरित संभारे।
तेई एहि ताल चतुर रखवारे।।
जौं प्रभु दीनदयालु कहावा।
आरति हरन वेद जसु गावा।।
राम नाम कर अमित प्रभावा।
संत पुरान उपनिषद गावा।।
उमा चरित सुंदर मैं गावा।
सुनहु संभु कर चरित सुहावा।।
यह चरित जे गावहिं
हरि पद पावहि ते न परहिं भवकूपा।।
उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहिं।
वैदेहि राम प्रसाद ते जन सर्वदा सुखु पावहीं।।
सेस सारदा वेद पुराना।
सकल करहि रघुपति गुन गाना।।
सुनु गिरिजा हरि चरित सुहाए
बिपुल निगमागम गाए।।
बालचरित अति सरल सुहाए।
सारद सेष संभुश्रुति गाए।
जहँ-तहँ राम ब्याहु सबु गावा।
सुजसु पुनीतलोक तिंहु छावा।।

संगीत विशारद, संगीत प्रभाकर, एम0ए0 संगीत

अरण्यकाण्ड

रघुबीर चरित पुनीत निसि दिन दास तुलसी गावई।।
रावनारि जसु पावन गावहिं सुनहि जे लोग। राम
भगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग।।

किष्किन्धाकाण्ड

जो सुनत-गावत कहत समुझत परम पद नर पावई।
रघुबीर पद पाथोज मधुकर दास तुलसी गावई।।

सुन्दरकाण्ड

सकल सुमंगलदायक रघुनायक गुन-गान।
सादर सुनहि ते तरहि भव सिंधु बिना जलजान।।

उत्तरकाण्ड

जे सकाम नर सुनहि जे गावहिं।
सुख संपतिनाना विधि पावहिं।।
हरि चरित्र मानस तुम्ह गावा।
सुनि मैं नाथ अमिति सुख पावा।।
रामचरित्र विचित्र विधि नाना।
प्रेम सहित कर सारदर गाना।।
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना।
एक अधार राम गुन गाना।।
मन कामना सिद्धि नर पावा।
जे यह कथा कपट ताजि गावा।

अंत में गोस्वामीजी प्रभु श्रीराम के चरित्रगान के संबंध में कहते हैं-

रघुवंश भूषण चरित यह नर कहहि सुनहि जे गावही।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावही।

उपर्युक्त श्रीरामचरितमानस के सभी उदाहरणों से हमें यह ज्ञात होता है कि गोस्वामी तुलसीदास भी भगवत चरित्र के गान के महत्व के प्रति सचेत थे। यही कारण है कि संपूर्ण श्रीरामचरितमानस में जहां भी उन्हें अवसर मिला, उन्होंने श्रीरामभक्ति में गुणगान के महत्व का प्रतिपादन किया। गोस्वामी जी के अनुसार भगवद्गुणानुवाद में इतनी शक्ति है कि वह मनुष्य के सारे कल्मषों को धोकर उसे श्रीराम के परमधाम का अधिकारी बना देता है। श्रीराम के चरित्र का गान भवसागर से पार होने का सुगम उपाय है। यह कलियुग के लिए विशेष है।

कलिजुग समजुग आन नहि जौं नर कर विस्वास।
गाइ राम गुनगन विमल भवतर बिनहिं प्रयास।।

जो मनुष्य प्रभु के चरित्र का गान नहीं करते उनके संबंध में गोस्वामी जी कहते हैं–

जो नहि करइ सम गुनगाना।
जीह सो दादुर जीह समाना।।

अर्थात् जो जीभ प्रभु श्रीरामचन्द्र जी के गुणों का गान नहीं करती वह मेढक के जीभ के समान है। प्रभु श्रीराम के चरणों में सहज स्वाभाविक प्रेम अनुराग और भक्ति के लिए उनके चरित्र और गुणों का गान बहुत सहायक सिद्ध होता है। श्रीरामचरित का गुणगान भवसागर से पार होने का या मोक्ष प्राप्त करने का सबसे सरल और सुगम मार्ग है।

संगीत शब्द का अर्थ "गान के सहित" है। गान के अधीन वादन और वादन के अधीन नर्तन है। अतः इन तीनों कलाओं में गान की ही प्रधानता है।

"नृत्तं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च।
अतो गीतं प्रधानत्वादप्रादावभिधीयते।।
संगीत रत्नाकर (1/24-25)

अति प्राचीन काल में वेदों की ऋचाओं का गान संगीत के माध्यम से होता था, सामवेद तो गान स्वरूप होने से गेय ही है।

गोस्वामी तुलसीदास की अनुपम कृति श्री रामचरितमानस महाकाव्य का पठन-पाठन तीन रूपों में किया जा सकता है-वाचन, पाठ और गायन।

वाचन-जब किसी वाक्य का स्वरहीन उच्चारण किया जाता है तो उसे वाचन कहते हैं।

पाठ-यदि वाक्य में ध्वनि उंची-नीची तो हो लेकिन स्वर अपने ठीक स्थान पर न लगे इस क्रिया को पाठ कहते हैं।

गान या गायन - जब किसी वाक्य को इस ढंग से गाया जाए कि उसमें स्वर ठीक-ठाक स्थान पर लगे तो इस क्रिया को गान या गायन कहते हैं।

जब श्रीरामचरितमानस के रससिक्त सोरठा, दोहा और चौपाईयों को विभिन्न राग और थाट में

निबद्ध करके गायन करती हूं तो समाधि की सी स्थिति हो जाती है। आत्म विस्मृति और आराध्य स्मृति का अद्‌भुत समन्वय स्थापित हो जाता है। कुछ रागों के स्वरलिपि का दिग्दर्शन-

गणेश वन्दना

जेहि सुमिरत सिधि होइ गन नायक करिबर बदन।
करउ अनुग्रह सोइ बुद्धि रासि सुभ गुन सदन।।
श्रीरामचरिमानस बालकांड प्रथम सोरठा

स्वरलिपि
राग विलावल त्रिताल (मध्यलय)

स्थायी

ग प ध नी	सां नी ध प	ध नी ध प	म ग म रे
जे हि सु मि	र त सि धि	होऽ ऽऽ	एऽऽऽ
ग ग म नि सा	ध प म ग	ग प म	ग म रे सा
ग न नाऽ	यऽ ऽ क	क रि ब र	ब द न ऽ
x	2	0	3

अंतरा

प प ध नी	सां सां सां सां	सां गं गं मं	गं रें सां -
क र उ ऽ	अ नु ऽ ग्र	ह सो ऽऽ	इ ऽ ऽऽ
सां सां सां ध	नी ध प प	ध नी ध प	म ग म रे
बु ऽ द्धि ऽ	रा ऽ शी ऽ	शु भ गु न	स द न ऽ
x	2	0	3

गुरू वन्दना - दोहा

श्री गुरू चरन सरोज रज निज मनु मुकुरू सुधारि।
बरनउँ रघुवर बिमल जसु जो दायक फल चारि।।
श्रीरामचरितमानस अयोध्याकांड -प्रथम दोहा

स्वरलिपि
राग-सरस्वती त्रिताल (मध्यलय)

स्थायी

म सा रे सा	रे - मे -	प - नी ध -	प - मे
श्री गु रू च	र ऽ न ऽ	स ऽ रो ज	ड र ऽ ज
प ध नी ध	सां - नी -ध	- प मे प	ध प - प
नि ज म न	मु ऽ कु रू	ऽ सु धा ऽ	ऽ र ऽऽ
x	2	0	3

अंतरा

नी धप म प ध	- सां -	सां - सां	रें नी - ध नी
ब रऽ न उ र	ऽ धु ऽ	ब ऽ र	वि म ल ज सु
रे सा रे मे प	ध मे प	ध सां - ध	म प मे प प
जो ऽ दा ऽ य	क फ ल	चा ऽ ऽ ऽ	ऽ र ऽ ऽ ऽ
x	2	0	3

वन्दना-चौपाई

मंगल भवन अमंगल हारी।
द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी।

श्रीरामचरितमानस बालकांड दोहा नं0 211 के बाद चौपाई
स्वरलिपि
राग भूपाली त्रिताल (मध्यलय)

स्थायी

ग रे ग रे	सा ध सा रे	ग प ध सां	सांसां धप गरे
सा-			
मं ऽ ग ल	भ व न अ मं	ऽ ग ल	हाऽ ऽऽ ऽऽ रीऽ

अंतरा

प प ग ग	प - सां ध	सां सां सां सां	सां रें सां सां
द्र ऽ व ऽ	उ ऽ सो ऽ	द स र थ	अ जि र ऽ
सां ध प ग	रे ग प ध	पध सांसा धप पध	सांसां धम गरे
सा-			
र ऽ ऽ ऽ	बि ऽ ऽ ऽ	हाऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ	रीऽ ऽऽ ऽऽ ऽ

भागवत महात्मय में कहा गया है कि भगवान को प्रसन्न करने के लिए संकीर्तन के महान आचार्यों द्वारा दिव्यगान प्रारंभ हुआ, जिसमें प्रहलाद जी करताल बजाने लगे, उद्धव जी ने झांझ उठा ली, देवर्षि नारद वीणा की ध्वनि करने लगे, स्वर विद्या में कुशल अर्जुन राग अलापने लगे, इन्द्र ने मृदंग बजाना प्रारंभ किया, सनकादि बीच-बीच में जयघोष करते और शुकदेव परमहंस तरह-तरह की सरस अंग भंगी करके भाव बताने लगे।

प्रहादस्तालधारी तरलगतितया चोद्धवः कांस्यधारी।
वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया रागकर्तार्जुनोऽभूत्।।
इन्द्रोऽवादीन्मृदंग जयजयसुकराःकीर्तन ते कुमारा।
यत्रगते भववक्त सरसरचनया यासपुत्रे वभूव।।

श्रीरामचरितमानस में पद-पद पर भक्ति, भगवत प्रेम एवं भवगत प्राप्ति के लिए गायन या गान को अत्यंत सरल, सुगम और महत्वपूर्ण भाग मान गया है। इस गान की महिमा इससे अधिक क्या हो सकती है कि स्वयं भक्ति देवी आनंदित होकर गायक के समक्ष नृत्य करने लग जाती हैं और गायक कृतकृत्य हो जाता है। कलियुग में तो भगवन्नाम, भगवत चरित्र, भगवान की लीलाओं तथा भगवान के गुणानुवाद के गान की महिमा को सबसे विशेषतम बताया गया है।

कलिमह एक न साधन दूजा। जोग जग्य जप तपव्रत पूजा।।
सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुण ग्रामहि।।
सो भवतर कछु संसय नाही। नाम प्रताप प्रगट कलिमाही।।

इसे ही परम चरम लक्ष्य और परम विश्राम प्राप्ति का सुगम मार्ग बताया गया है। इस प्रकार श्रीरामचरितमानस में गान की महिमा को इतना व्यापक रूप से विस्तार दिया गया है कि उसका संपूर्ण वर्णन संभव ही नहीं। अतः संक्षिप्त वर्णन से ही संतोष कर पा रही हूं।

नागार्जुन के काव्य में संगीत तत्व

आरती

एक उक्ति का सार है कि लेखको को अपना घर ज्वालामुखियों के किनारे बनाना चाहिए। इसकी व्यंजना और ध्वनि मुक्ति बोध के कथन के इस आशय तक भी आती है कि सच्चे लेखकों को अभिव्यक्ति के खतरे उठाने होते हैं। बीसवीं सदीं की समूची हिंदी कविता में नागार्जुन ही एक मात्र कवि है जो इस तरह यायावरी करते हैं कि जहाँ जाते है, वहाँ अपना घर और ज्वालामुखी साथ लेकर चलते हैं। नागार्जुन के सामने भी अपने समय के सभी अंतर्विरोध, अमानुषिकता और सत्ता की शक्ति के भयावह रूप उपस्थित थे, साथ ही साथ व्यक्तिगत जीवन की कठिनाइयाँ। इनके बीच कविकर्म करना, एक सर्जक की तरह सक्रिय करना काफी प्रिय था। वे सर्वाधिक निडर नागरिक की तरह, विरहि कवि की तरह, अडिग, विवेकशील और आस्थावान रहे। कविता के पूर्वकृत रूपों, विषयों या वस्तुओं की चौखट में कैद होना उन्हें मंजूर नहीं था। वे हमेशा कविता के रूप विस्तार, विषय विस्तार और वस्तु विस्तार के लिए सदैव प्रयोगशील रहे।

नागार्जुन जनता के प्रतिनिधि कवि हैं। नागार्जुन की चर्चा कवि रूप में अधिक होती है। कविता के धार उपन्यास से अधिक तेज है। वे अपनी कविताओं में सबसे पहले प्रेम और प्रकृति को रेखाकित करते हैं। अपने देश और जनपद की प्रकृति से उनका प्रेम, उनके पारिवारिक प्रेम और देश प्रेम को एक समग्र अन्तः सूत्र में रागात्मकता के साथ बाँधने वाला है। इसलिए नागार्जुन अपनी तमाम यायावरी के बावजूद आवारागर्द नहीं बनते। गहरे दायित्व बोध से सम्पन्न भाव से परिचालित होते है। दुनिया की जड़ या चेतन जितनी भी सत्ताएँ है उनकी प्रवृति अपने मूल और उद्‌गम स्थल की ओर लौटने की होती है। पक्षी शाम को अपने घोसले में लौटते हैं,बादल जमीन पर लौटता है, नदियाँ सागर को लौटती है और मनुष्य ममता की ओर लौटता है, प्रेम की ओर लौटता है। उस प्रेम की ओर जहाँ विषम परिस्थितियाँ हमें विचलित नहीं कर पाती हो।

नागार्जुन की कविताओं में कहीं-कहीं लोकगीतों का स्वर सुनायी पड़ता है और कहीं-कहीं तो उन्होंने लोक गीतों की पक्तियाँ ही उठा ली है जैसे :- 'हाथी घोड़ा पालकी' या 'आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी'।

इनकी बहुत सारी कविताओं जैसे 'मेरी भी आभा है इसमें 'बादल को घिरते देखा है;' कालिदास सच-सच बतलाना ',जो नहीं हो सके पूर्णकाम' 'कई दिनों तक चुल्हा रोया' आओ रानी हम ढोयेगे पालकी' 'चंदू मैने सपना देखा', 'धिन-धिन धा धमक धमक मेघ बाजे'; 'इंदु जी इन्दु जी क्या हुआ आपको' इत्यादि कविताएँ लय मे हैं। लय, यानि काल को एक निश्चित अवधि के आघातों से व्यक्त करना। एक जैसी एक रसता और ऊब पैदा न कर दे, इसलिए इसके 3 (तीन) आघातों या चार आघातों के प्रतिरूप बनाये गये जो ताल कहलायी।

हर ताल का अपना अलग चरित्र होता है एवं अलग व्यक्तित्व तथा अलग चाल-चलन। कहरवा और दादरा चपल चंचल प्रकृति के ताल है जबकि

शोध छात्र, स्नातकोत्तर संगीत विभाग, तिलकामांझी भागलपुर वि0वि0, भागलपुर

तीव्रा या धमार गंभीर और पुरूष को व्यक्त करता है। कवि का रूझान किस ताल की ओर है इससे कुछ हद तक उसके व्यक्त्वि और प्रकृति को समझा जा सकता है।

ऐसा माना जाता है कि नागार्जुन मुख्यतः करहवा ताल के ही कवि हैं। इनकी अधिकांश रचनाओं के साथ कहरवा ताल ही प्रयुक्त होता है। उपर्युक्त कविताओं में से इन्दु जी, इन्दु जी और घिन-घिन घा घमक घमक मेघ बजे' की संगत दादरा ताल जिसका बोल धा धीना धा ती ना (या ताक धिना धिन से) होती है। नागार्जुन में अपनी कविता को 'लिरिकल' या लोकगीतात्मक बनाने की क्षमता अद्‌भुत थी। वे स्वयं एक अच्छे गायक थे। उनकी कविता जिस धरातल पर संभव हो रही है वह भारतीय शास्त्रीय एवं उप-शास्त्रीय संगीत की ऐसी जानी पहचानी जमीन है जिस पर कई सौ सालों से ठुमरी एवं कजरी के बोल रचने की रवायत रही है। जिसमें शृंगारपरक, विरहमूलक या प्राकृतिक शब्द चित्र को लयपूर्वक गूंथा जाता है। इस संदर्भ में सबसे प्रचलित परिपाटी यही रही है कि हम किसी शब्द युग्म को; सरगम या तानों को, या कि अंतरों के बची मुखड़े को बार-बार लय देती हुई क्रमिकता में इस्तेमाल करे।

नागार्जुन जब 'बेतवा किनारे' कविता को लिख रहे होगे, तब भले ही उन्हें इस बात का मान नहीं रहा हो कि वह ठुमरी या कजरी के बोलों की कसौटी पर कविता को अंजाम दे रहे हैं। मगर उनके व्यक्तित्व में उस परंपरा का बोध अवश्य मिला हुआ था, जिसमें ऐसी सरस कविता वे लिख पाये। अधिकांश प्रकृति चित्रण की कविता में यह टेकनुमा होने या कि स्थाई का दोहराव पाया जाना कोई साहित्यिक प्रयोग नहीं बल्कि संगीत का संस्कार है जो इन प्रकृतिप्रेमी कवियों को सुलभ रहा है।

नागार्जुन की अनेक कविताएँ रागों पर आधारित है। जो उस राग की प्रकृति के अनुसार है जिसमें 'बादल को घिरते देखा है', 'जो नहीं हो सके पूर्ण काम' 'कई दिन से चुल्हा रोया' इत्यादि है। जिस कविता में बादल, वर्षा, प्राकृतिक वर्णन किया गया है उसे राग मियॉमल्हार सूरमल्हार आदि रागों में बाँधने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत है उनकी कविता 'बादल को घिरते देखा है' का प्राकृतिक चित्रण - इस कविता में एक ओर बादल को घिरते देखा है, कमलों पर गिरते देखा है, हँसों को तैरते देखा है, प्रणय-कलह छिड़ते देखा है, और वंशी पर फिरते देखा है की टेक है तो दूसरी ओर कोमलकांत तत्सम पदावलियों का अद्‌भुत रचाव है जहाँ शब्द-शब्द रूप, रस, गंध, स्पर्श और संगीत स्वतः स्फुटित होकर पाठकों की चेतना के रंध्र-रंध्र में समा जाता है और कवि की संपूर्ण कविता सम्प्रेषणीय होकर पाठक की चेतना में बह जाती है जहाँ पाठक भी निःशंक होकर बरबस यह कहा है कि "मैने बादल को घिरते देखा है।"

पहली बार जब मैने इनकी कविता को पढ़ी तो ऐसा प्रतीत होने लगा था कि अमल धवलगिरि के शिखरों पर बादल को घिरते हुए देख रही हूँ। यह बादल रूई के फहि की तरह हल्का और आद्र हैं इसलिए छोटे-छोटे मोती सदृश शीतल ओस-कण झर रहे हैं और मानसरोवर के स्वर्णिम कमलों पर न्यौछावर हो रहे है। हिमालय की पृष्ठभूमि में बादलों की क्रीडा से कवि की कृति सौन्दर्य के जिस साज-श्रृंगार और अक्षत कौमार्य को साक्षात्कार किया और कराया वह अद्‌भुत है।

एकाएक ऐसी भावना के साथ मन में इस कविता को मियामल्हार राग के तर्ज पर बॉधने का प्रयास करने लगी। राग मियाँमल्हार के रचयिता तानसेन जी थे। यह राग कानड़ा और मल्हार के मिश्रण से बना है। इस राग में गन्धार स्वर अति कोमल लगता है और मध्यम् स्वर के साथ आन्दोलन करता है। यह राग काफी थाठ का सम्पूर्ण-षाड़व जाति का है। यह राग वर्षा ऋतु में बहुत ही मधुर प्रतीत होता है इसलिए इस राग को मौसमी राग की संज्ञा दी गई है। इस राग में 'रे म रे सा, नी प म प नी ध नी सा, म रे प, नी घ नी सां, प ग म रे सा। यह स्वर समुदाय बार-बार प्रयोग होता है तथा इसी से राग को तुरन्त पहचाना जा सकता है। प्रस्तुत है कविता 'बादलों को घिरते देखा है' का राग मियाँमल्हार पर आधारित कहरवा ताल में :-

अमल धवल गिरि के शिखरो पर
बादल को घिरते देखा है।
छोटे-छोटे मोती जैसे
उसके शीतल तुहिन कणों को
मानसरोवर के उन स्वर्णिम
कमलों पर गिरते देखा है
बादल को घिरते देखा है।
छोटी-बड़ी कई झीले है...।

उपर्युक्त कविता जो राग मियामल्हार पर आधारित है। उसका स्वरांकन इसको संरक्षित रखने में काफी सहायक सिद्ध होगी। प्रस्तुत है इसका स्वरांकन कहरवा ताल में

राग मियांमल्हार पर आधारित ताल - कहरवा

नि सां नि प म प ग म प - नि घ नि - - सां
अ म ल घ व ल गि रि के ऽ षि ख रों ऽ प र
X 0 X 0
नि नि सां सां नि सां सां - - नि- - नि - प - -
बा द ल को ऽ घि र ते ऽ देऽ ऽ खा ऽ है ऽ ऽ
X 0 X 0
ग म रे सा नि घ़ नि़ सा म रे म प म प - -
छो ऽ टे ऽ छो ऽ टे ऽ मो ऽ ती ऽ जै ऽ से ऽ
X 0 X 0
म प ग म रे रे सा - म प नि नि सां- - - -
उ स के ऽ शी ऽ त ल तु ऽ हि क णोऽ ऽ से ऽ
X 0 X 0
नि नि सां - सां - नि सां नि घ नि सां - - -
मा ऽ न स रो ऽ व रे के ऽ उ न स्व र वि म
X 0 X 0
नि नि सां सां नि सां सां - - नि - नि - प - -
कम लो ऽ प र गि र ते ऽ देऽ ऽ खा ऽ है ऽ ऽ
X 0 X 0

शेष सभी अन्तरे उपर्युक्त स्वरांकन के आधार पर होगा।

इस प्रकार हम कह सकते है नागार्जुन की कविताओं में राग, ताल, भाव सभी का समावेश एक बराबर है। नागार्जुन कमल के अलावा इकतारा, तंबूरे और तानपूरा के जोर पर भी अपनी अर्थसंभवा शक्ति को रेखांकित करती है।

ललित कलाओं में संगीत : सौन्दर्य विषय की दृष्टि से

दिव्या मिश्रा

सौन्दर्य का अर्थ

भगवान श्री कृष्ण ने कहा है : "विश्व में व्याप्त समस्त सौन्दर्य में मेरा ही तेज विद्यमान है, अथवा विश्व का समस्त सौन्दर्य मुझमें निहित है।" अतः सौन्दर्य एक ईश्वरीय गुण है। यह मनुष्य का नैसर्गिक गुण है।

सौन्दर्य शब्द अंग्रेजी के Beauty शब्द से बना है, जिसका अर्थ है—कोई आकृति, रूप, ध्वनि, रंग, प्रस्तुतिकरण, चरित्र, व्यवहार आदि जो इन्द्रियों अथवा मन को आनन्द तथा संतोष प्रदान करे अथवा ऐसे गुण से सम्पन्न कोई व्यक्ति या वस्तु। यह सौन्दर्य ललित कलाओं में कहीं स्थूल और सरल होता है तो कहीं सूक्ष्म और क्लिष्ट।

ललित कला का अर्थ

ललित कलाएं वे हैं जिनकी रचना व संस्कार अधिकतम कलात्मकता के लिए और इसके अनुभवकर्ता को बौद्धिक व हार्दिक आनंद प्रदान करने के लिए ही किया जाता है।

ललित कला यह शब्द फ्रेंच भाषा के 'ब्यूऑक्स आर्ट्स' का अनुवाद है जिसका अर्थ है वे कलाएं जिनका संबंध केवल सौन्दर्य से हो। यदि तर्कात्मक विचार करें तो इनका क्षेत्र विस्तृत मानना चाहिए जिससे इनके अन्तर्गत किन्हीं संकेतों या श्रवणीय संकेतों प्रतिमाओं आदि को भी लिया जा सके। इस प्रकार ललित कलाओं के अंतर्गत वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला व उनसे संबंधित दृश्य कलाएं, साँचे ढालने की कला, रेखा-चित्र कला, साहित्य, काव्य, गद्य, नाट्य और संगीत आदि कलाएं सम्मिलित हो सकेगी।

संक्षेप में, कलाकार की भावपूर्ण कार्य कुशलता और सूक्ष्म सौन्दर्य चेतना की आनंदप्रद अभिव्यक्ति ही ललित कला है। इस प्रकार साधारण शब्दों में यह कह सकते हैं- भावात्मक प्रदर्शन, जिसका मुख्य ध्येय विशुद्ध आनन्दप्राप्ति हो, उसे ललित-कला कहेंगे।

ललित कला में संगीत का स्थान

भारतीय चिन्तन के अनुसार ललित कला के अन्तर्गत 1. काव्य (नाट्य इसके अन्तर्गत है) 2. संगीत (गायन वादन नृत्य तीनों का समावेश) 3. वास्तु कला (इसके अन्तर्गत चित्र व मूर्तिकला का समावेश) आदि आते हैं। जहाँ काव्य के उपकरण भाषा और भाव हैं, चित्रकला के रेखा और रंग हैं वहाँ संगीत के मुख्य उपकरण के रूप में स्वर और लय को गिना सकते हैं। यहाँ सुस्पष्ट है कि संगीत कला के उपकरण ही अत्यन्त अमूर्त और चल है। अतः उन उपकरणों से निखरी कला भी अत्यन्त अमूर्त और गतिशील होगी।

अन्तः कलाएं जब मूर्त से अमूर्त में, प्रत्यक्ष से परोक्ष में ढलने के प्रयत्न में लगी रहती है वहाँ संगीत सहज रूप से ही, प्रारम्भ से ही बिना किसी नाटकीय परिस्थिति तथा बिना किसी अन्य कला- विधा के हस्तक्षेप के कारण अमूर्त रूप में ही हमारे कानों के समक्ष आती है। जहाँ अंततोगत्वा अन्य कलाएँ पहुँचना चाहती हैं वहाँ संगीत पहले से स्थित है।

संगीत और सौन्दर्य

संगीत के संदर्भ में जब सौन्दर्य शब्द की चर्चा की जाए तो सहज ही जो शब्द स्मरण हो जाते हैं, वे

शोध छात्र, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

है- 'सत्यम्, शिवं, सुन्दरम् और सच्चिदानंद'। संगीत का माध्यम है नाद। यह ब्रह्म की शक्ति है। गीत, वाद्य और नृत्य तीनों ही नादात्मक है। अतः स्वर व गीत के माध्यम 'नाद' से ही ज्ञान अर्थात् 'सत्यम्' की प्राप्ति होती है क्योंकि ज्ञान की प्राप्ति तभी होती है, जब सत्य का बोध होता है। 'नाद' से ही कल्याण 'शिवम् की प्राप्ति होती है। 'नाद' स्वयमेव सुंदर ध्वनि है अतः नाद में ही सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम का समन्वय है। दूसरे शब्दों में नाद का अस्तित्व है- यह सत्यम है, 'नाद' माधुर्यपूर्ण है- यह शिवम् है और 'नाद' आनंद प्रद है- यह सुन्दरम् है। नाद की साधना से सत् (सत्यम्), चित्त (शिवम्), आनंद (सुंदरम्) सच्चिदानंद की प्राप्ति संभव है क्योंकि वह ब्रह्म है। इसीलिए इसे नाद ब्रह्म कहा गया है।

संगीत का सौन्दर्य दिव्य है। यह सौन्दर्य नाद से प्रारम्भ होकर संगीत के सभी मौलिक तत्वों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है जिससे यह श्रुति, स्वर, सप्तक, ग्राम, मूर्च्छना, जाति, राग आदि के द्वारा रसानुभूति कराने में सक्षम होता है। क्योंकि किसी रस विशेष की सृष्टि तभी संभव है जब कोई कला केन्द्र सौन्दर्य-गुण सम्पन्न हो। सुंदर वस्तु स्वयमेव आनंदप्रद होती है।

हमारा संगीत रागों पर आधारित है। पं. व्यंकटमखी के अनुसार- "जिनमें मन रंजन करने का गुण हो वही 'राग' है।" हमारे रागदारी संगीत में सौन्दर्य के अनंत रहस्य निहित है इसलिए एक राग अनेक बार सुने जाने पर भी मनोहर एवं नवीन प्रतीत होता है। क्योंकि इन रागों के साथ विभिन्न संदर्भ जुड़े होते हैं। राग के 'ध्यान' और राग के 'चित्र' बहुत कुछ कह जाते हैं।

राग के साथ 'ऋतु' का सम्बन्ध, राग के साथ समय का सम्बन्ध, राग का पुरूष-स्त्री प्रकृति का होना, अलग-अलग वय होना जैसे- प्रौढ़ वयस्क (भूपाली), गति-विलम्बित, मध्य या द्रुत होना, राग की सामाजिक अवस्था जैसे-खंडिता, कलहांतरिता, पिहरिणी होना इत्यादि रागों के साथ अनेक किंवदन्तियाँ जुड़ी है। गायन के क्षेत्र में तो 'पद' उससे जुड़ा अर्थ बोध और तज्जनित नाट्यतत्व भारतीय संगीत की प्रमुख विशेषता रही है।

हमारे राग संगीत का सौन्दर्य-सागर कितना गहरा व विस्तृत है इसका संकेत बंदिश के विविध प्रकारों से मिलता है। क्योंकि ये बंदिशें स्वर, लय के उपरान्त भी विभिन्न सन्दर्भों को (विशेषतः गायन के क्षेत्र में 'पद' को) सम्मिलित करती हुई, प्राप्त होने वाले विशिष्ट आनन्द को किसी प्रतीक उपमा-संदर्भ से जोड़ती चली जाती है। अतः पं. शार्ङ्गदेव ने गीत के गुणों का विवेचन किया है:-

व्यक्तं पूर्णं प्रसन्नं च सुकुमारमलंकृतम्।
समं सुरक्तं लक्ष्णं च विकृष्टं मधुर तथा।।

अभिप्राय यह है कि गीत व्यक्त अर्थात् स्फुट स्वर से युक्त होना चाहिए। इसमें छंद, राग, पद, स्वर आदि की स्पष्ट अभिव्यक्ति प्राकृतिक व स्वाभाविक रूप से होनी चाहिए। गमक आदि स्वर शृंगार के उपकरणों का पूर्णता के साथ प्रयोग होना चाहिए। प्रसन्न अर्थात् प्रकट व स्पष्ट अर्थ से युक्त शब्दोच्चार हो, सुकुमार व मधुर कंठ ध्वनि से तीनों सप्तकों में अलंकृत हो, पूर्ण, लय और स्थान तीनों पक्षों में सामंजस्य हो तथा इनके सौन्दर्य से 'सम' रूप से सम्पन्न हो, सुरक्त अर्थात् वंशी की मधुर ध्वनि के समान मधुर व सुकंठ द्वारा प्रस्तुत हो, ऊँचे-नीचे स्वरों सहजता व माधुर्य, द्रुत और मध्य लय के स्वरों में भी ओज बना रहे, ऊँचे स्वरों में भी उच्चारण विकृष्ट-स्पष्ट और प्रभावपूर्ण हो, अतः गीत मधुर अर्थात् लावण्यपूर्ण और जन मनोहर होना चाहिए। इस प्रकार के बहुत सूक्ष्म, सुंदर व मार्मिक निर्देश शास्त्रों में मिलते हैं जो संगीतज्ञों की सूक्ष्म सौन्दर्य चेतना व गहरी सौन्दर्य भावना के प्रमाण है।

अतः बंदिश के विधान में राग की आकृति का शृंगार होता है तथा उसके विशिष्ट स्वर-सौन्दर्य की प्रभावकारी व जनमनोहर अभिव्यक्ति भी होती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भटनागर मधुर लता, भारतीय संगीत का सौन्दर्य, विधान, प्रथम संस्करण-1994 ई., प्रकाशक-हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, ई.ए./6, मॉडल टाउन दिल्ली।
2. दीक्षित डॉ. प्रदीप कुमार, सरस संगीत, प्रकाशक-किशोर विद्या निकेतन भदैनी वाराणसी, द्वितीय संस्करण-2005 ई.
3. गर्ग डॉ. लक्ष्मीनारायण, निबन्ध संगीत, प्रकाशक-संगीत कार्यालय हाथरस, तृतीय संस्करण-2003 ई.

सांगीतिक प्रस्तुति सम्बन्धित घटक

ज्ञान सिंह पटेल

संगीत एक ऐसी कला है जो पूर्ण रूप से प्रयोक्ता और प्रेक्षक पर निर्भर करती है। इन्हीं दो आधार स्तम्भों पर संगीत का सृजन होता है। किसी प्रस्तुति में प्रस्तुतकर्ता (Performer) और श्रोता या दर्शक इन दोनों वर्गों का जब समन्वय होता है तब निश्चित रूप से कुछ प्रस्तुतियां होती है। इसी प्रस्तुतिकरण से सम्बन्धित अनेक घटक होते हैं जो कार्यक्रम को अधिकतम सफलता प्रदान करते हैं। चूंकि भारतीय शास्त्रीय संगीत के तीन प्रमुख स्तम्भ गायन वादन तथा नृत्य है। इन तीनों विधाओं में प्रस्तुतिकरण में अनेक घटक होते हैं।

कलाकार को सृष्टिकर्त्ता, ब्रह्मा कहा जाता है, क्योंकि ब्रह्मा के समान उसकी भी एक सृष्टि होती है और यह सृष्टि है उनकी कलाकृति, जिसके माध्यम से वह प्रेक्षक के साथ जुड़कर उसे आनन्द प्रदान करता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कलाओं में जीवन का अनुकरण होता है। अतः कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि जीवन के प्रति उसकी संवेदनशीलता, अनुभूति और कल्पना सबल हो। स्वयं को जीवन से तटस्थ रखते हुए वह उसके साथ जितना अधिक तादात्म्य स्थापित कर लेता है, उसकी अभिव्यक्ति का प्रभाव भी उतना ही व्यापक एवं सूक्ष्म होता है। कल्पना की उड़ान होते हुए भी जो कला जीवन के यथार्थ से जितनी अधिक जुड़ी रह पाती है, वह उतनी ही अधिक प्रभावशाली और स्थायी होती है, क्योंकि प्रेक्षक भी जीवन के अपने अनुभवों के आधार पर कला से आनन्द प्राप्त करता है। इस दृष्टि से कलाकार की उत्कृष्टता मानव जीवन के समग्र दर्शन पर अवलम्बित है।

कलाकृति की कल्पना के बाद दूसरा स्तर उसकी अभिव्यंजना का है। इसे उसका तकनीकी पहलू भी कह सकते हैं। अपनी कल्पना को कलात्मक अभिव्यक्ति का रूप प्रदान करने के लिए कलाकार को कुछ उपकरणों के समुचित उपयोग में निष्णात् होने की आवश्यकता होती है। प्रयोगात्मक कलाओं में यह अभिव्यक्ति कलाकार अपने शरीर के विभिन्न अंगों और वाद्यों के माध्यम से करता है। अंगों में विकृति आ जाने पर सम्भव है कि कलाकार की कल्पना तो सुन्दर एवं सशक्त हो, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति करने में वह समर्थ न हो। बौद्धिक और शारीरिक दोनों ही प्रकार की क्षमतायें किसी स्तर तक सीमित होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि सतत अभ्यास एवं उचित दिशा-निर्देशन के द्वारा इन क्षमताओं का विकास किया जा सकता है। शास्त्र ग्रन्थों में वाग्गेयकार, शरीर, कण्ठ एवं हस्त के जिन गुण-दोषों का निरूपण किया गया है, वे कलाकार की उक्त दोनों ही प्रकार की क्षमताओं से संयुक्त रूप से सम्बद्ध है।

कल्पना और अभिव्यंजना के बाद अब बात आती है प्रस्तुति के समय के वातावरण की, जिसका निर्माण करने वाला प्रमुख अंग है प्रेक्षक यानी श्रोता और दर्शक। प्रेक्षक के लिए शास्त्रीय भाषा में 'सहृदय' होना आवश्यक बताया गया है। कलाकार की कल्पना और अभिव्यंजना इस पक्ष से भी प्रभावित होती है।

एम.फिल., संगीत शास्त्र विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रयोगात्मक कलाओं में कलाकार का प्रेक्षक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। कलाकार प्रेक्षकों को आनन्द की अनुभूति करवाता है तथा उनकी प्रतिक्रिया से स्वयं भी प्रभावित होता रहता है। अच्छे से अच्छे कलाकार की अभिव्यक्ति भी सहृदय प्रेक्षकों के अभाव में सार्थक नहीं हो पाती। यद्यपि कलात्मक प्रयोग से स्वयं कलाकार को भी आनन्द लाभ होता है, तथापि सर्जना के क्षणों में योग्य प्रेक्षकों की उपस्थिति तथा उनकी प्रशंसापूर्ण प्रतिक्रिया कलाकार को उत्तम सर्जना के लिए प्रेरित करती है। मर्मज्ञ प्रेक्षकों की आनन्दात्मक प्रतिक्रिया से प्रेरणा पाकर वह नयी-नयी भाव-सृष्टि करता है। प्रेक्षकों को आनन्दविभोर कर देना उसका चरम लक्ष्य होता है। अभिप्राय यह है कि प्रयोगात्मक कलाओं से प्रयोग की सफलता के लिए एक ओर तो यह आवश्यक है कि कलाकार अपनी कला में दक्ष हो तथा दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि प्रेक्षक केवल स्थूल दृष्टि से देखने और सुनने वाला न हो। यानी कलात्मक आनन्द के लिए प्रेक्षक को सहृदय होना चाहिए। प्रेक्षक की अनुभूति कलाकार की कल्पना के जितने अधिक निकट होगी, उतना ही उस प्रयोग-प्रस्तुति को सफल माना जाएगा।

कला के माध्यम से मिलने वाला आनन्द ही वह केन्द्र बिन्दु है, जिस पर कलाकार और प्रेक्षक एक-दूसरे से मिलने का प्रयत्न करते हैं। इस दिशा में आगे बढ़ने का प्रयास दोनों को ही करना होता है। प्रयोगात्मक कलाओं में इसके लिए सामान्य रूप से कलाकार और प्रेक्षक में प्रत्यक्ष सम्बन्ध अपेक्षित होता है, परन्तु आधुनिक युग में विकसित हुए ऑडियो-विजुअल वैज्ञानिक उपकरणों ने कलाकार और प्रेक्षक के सम्बन्ध को काफी हद तक शिथिल बना दिया है। पहले यह बात नहीं थी। कलाकार के मन में पहले से ही यह स्पष्ट होता था कि उसे किस देश और काल के किन प्रेक्षकों के लिए अपनी कला का प्रदर्शन करना है। उक्त उपकरणों की सहायता से एक देश-काल में की गयी कलात्मक अभिव्यक्ति दूसरे देश-काल में स्थित प्रेक्षकों तक पहुँच तो जाती है, किन्तु प्रेक्षकों के सामने न रहने के कारण उनकी प्रतिक्रिया कलाकार पर सर्जना की दृष्टि से कोई प्रभाव नहीं डाल पाती। कलाकार की अभिव्यंज
होता है अनामी प्रेक्षक के लिए और कलाकार
कभी-कभी प्रेक्षक के लिए अनामी हो जाता
दैनिक जीवन के विभिन्न कार्यों में लगे रहते
प्रेक्षक जब इन उपकरणों के माध्यम से कला
आनन्द उठाने के लिए प्रेक्षक यदि एकचित्त हो
भी बैठे, तो भी वैसा वातावरण नहीं बन पाता, जै
सहृदय प्रेक्षकों की सभा में कलाकार के सा
बैठकर आनन्द लेते समय होता है। यही कारण
कि हर मर्मज्ञ प्रेक्षक की यह ललक होती है कि
कलाकार के सम्मुख प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित हो
उसकी कला का आनन्द ले।

वस्तुतः इन वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम
कलाकार की सर्जना प्रेक्षक तक अपने मूल रूप
नहीं पहुँचती। यह सर्जना उपकरणों के द्वारा ज
पुनः प्रेषित या प्रसारित की जाती है, तो आमने-साम
न होने के कारण कलाकार और प्रेक्षक कला
दृष्टि से किसी एक स्तर पर आकर परस्पर तादात्
स्थापित नहीं कर पाते। दोनों के बीच किसी प्रक
का अन्तःसम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। आ
स्थिति यह है कि कलाओं के क्षेत्र में इन उपकरण
के उपयोग को नकारा नहीं जा सकता। इस
विपरीत भविष्य में इनका और भी अधिक विका
और प्रसार होगा, पर यह भी सत्य है कि इ
उपकरणों के उपयोग की अपनी एक सीमा है
कलाकार और प्रेक्षक दोनों को ही एक सीमा है।
उपकरण देश और काल का अतिक्रमण करते हु
कलाकार और प्रेक्षक में सम्बन्ध स्थापित कर सक
हैं, पर यह सम्बन्ध सहज नहीं, अपितु कृत्रिम
होगा। जब संस्कारित प्रेक्षक ही उपकरणाश्रि
अभिव्यक्ति से अपेक्षित आनन्द प्राप्त नहीं क
पाता, तो सामान्य प्रेक्षक से ऐसी अपेक्षा कैसे क
जा सकती है?

यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि वह कला
क्या जो सामान्य प्रेक्षक को प्रभावित न कर स
अथवा जिससे आनन्द उठाने के लिए विशेष प्रका
के प्रशिक्षण की आवश्यकता हो। यहाँ यह स्मर
रखना चाहिए कि अपने बौद्धिक-मानसिक स्तर

अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक निजी परिवेश होता है। लोक में प्रत्येक व्यक्ति की कल्पना और अनुभूति भी पृथक्-पृथक् होती है। अभिप्राय यह है कि कला कलाकार की अपनी कल्पना और प्रेक्षक की अनुभूति पर आश्रित होती है। इन दोनों के बीच में होती है अभिव्यंजना। व्यक्तिगत कल्पना और तकनीकी सामर्थ्य के अनुसार प्रत्येक कलाकार अभिव्यंजना के लिए न केवल भिन्न-भिन्न माध्यमों का चयन करता है, बल्कि माध्यम में समानता होने पर भी प्रत्येक कलाकार की अभिव्यंजना भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। एक ओर व्यक्तिगत कल्पना और दूसरी ओर व्यक्तिगत अनुभूति की स्थिति में केवल अभिव्यंजना के माध्यम से कलाकार और प्रेक्षक के मध्य सम्बन्ध स्थापित होता है। कलात्मक अनुभूति की दृष्टि से तो प्रेक्षक की कल्पना का कलाकार की कल्पना के समकक्ष होना अपेक्षित है ही, साथ ही माध्यम के प्रतीकात्मक अर्थ से भी उसका परिचय होना चाहिए।

अतः यह कहा जा सकता है कि शास्त्रीय कलाओं से आनन्द का आस्वादन प्राप्त करने के लिए किसी सीमा तक प्रेक्षक का प्रशिक्षण होना चाहिए। पहले प्रशिक्षण का यह कार्य मर्मज्ञ प्रेक्षकों की सभा में बैठने से सहज ही हो जाया करता था। आज नवीन उपकरणों के प्रचार-प्रसार के कारण संगीत और नाट्य सर्वसाधारण के लिए दुर्लभ तो अवश्य नहीं रह गये हैं, पर मर्मज्ञ प्रेक्षकों की सभा में बैठकर देखने-सुनने का अवसर बहुत कम लोगों को प्राप्त होता है। वैज्ञानिक उपकरणों का उपयोग इतना अधिक बढ़ता जा रहा है कि उसको देखते हुए यह विचारणीय है कि विशेष रूप से प्रयोगात्मक कलाओं में कलाकार और प्रेक्षक के अन्तःसम्बन्ध को प्रगाढ़ बनाने की दिशा में कुछ नये प्रयास किये जाएँ। इसके लिए एक ओर तो ऐसी परिस्थितियों का निर्माण किया जाना चाहिए, जिससे अधिक से अधिक लोगों को कार्यक्रमों में प्रत्यक्ष उपस्थित होकर आनन्द उठाने का अवसर मिल सके तथा दूसरी ओर कला के विभिन्न माध्यमों की सीमा एवं तकनीकी पहलुओं के प्रतीकात्मक अर्थों से परिचित कराने के लिए कोई मार्ग निकाला जाना चाहिए। इससे प्रेक्षकों के एक ऐसे वर्ग का निर्माण किया जा सकेगा, जो कलाओं के तकनीकी पहलुओं को चाहे न भी समझे, पर कलाओं का आनन्द उठाने में समर्थ हो। इससे कलाकार और प्रेक्षक दोनों ही पक्षों की दृष्टि से कला के स्तर को उठाने में समुचित सहायता प्राप्त होगी; क्योंकि प्रत्येक कलाकार को अपनी कला की परख के लिए अच्छे प्रेक्षकों की अपेक्षा रहती है।

स्वर एवं तालिपि पद्धतियाँ : एक विश्लेषण

शालिनी सक्सेना

अपने विचार एवं अपने मन के भाव दूसरों तक स्थानान्तरित करने के लिए जिस प्रकार भाषा की आवश्यकता होती है उसी प्रकार बंदिशों को स्थायित्व देने के लिए स्वरलिपि की संगीत में अत्यन्त आवश्यकता होती है। किसी गाने की कविता बंदिश एवं साजो पर बजाने की गत को स्वर और ताल के साथ जब लिखा जाता है तब उसे स्वरलिपि (Notation) कहते है या फिर इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं–"The Art of Describing Musical Ideas in Written Characters" कौन सा गीत कब, कैसे और किस प्रकार गाया व बजाया जाना चाहिए व आगे की पीढ़ी को समझाने की दृष्टि से स्वरलिपि महत्वपूर्ण माध्यम है और स्वरलिपि के माध्यम से सामूहिक शिक्षा प्रदान करना भी संभव है। प्राचीनकाल में भारत में लगभ 250 ई. पूर्व अर्थात् पाणिनी के समय से पहले ही स्वरलिपि पद्धति विद्यमान थी क्योंकि महर्षि पाणिनी ने 'अष्टाध्यायी' में स्वर क्रिया का सविस्तार वर्णन किया है, किन्तु तब यह स्वरलिपि पद्धति अपने शैशव काल में ही थी। उस समय तीव्र और कोमल स्वरों के भेद तथा ताल मात्रा सहित स्वरलिपि नहीं होती थी अपितु केवल स्वरों के नाम उसके प्रथम स्वरों के साथ सरगम के रूप में दिए जाते थे। उनसे केवल इतना ही बोध होता था कि अमुक गायन में अमुक स्वर प्रयुक्त हुए हैं परन्तु धीरे-धीरे स्वर लेखन पद्धतियों का विकास होता गया। साम संगीत के समय इसमें विशेष प्रगति हुई वेदों के समय 3 प्रकार के चिह्नों का प्रयोग होता था। उद्दात, अनुदात्त, और स्वरित। जो इस प्रकार है -

1. तार सप्तक के स्वरों को 'उदात्त' कहते थे जिसका चिह्न (।) खड़ी लकीर था।

2. मन्द्र सप्तक के स्वरों को 'अनुदात्त' कहते थे जिसका चिह्न (-) आड़ी रेखा था।

3. मध्य सप्तक को 'स्वरित', कहते थे जिसका (2, 3-2) संख्या का प्रयोग होता था। जैसे-जैसे स्वरों की संख्या बढ़ने लगी वैसे-वैसे अलग-अलग प्रकार के चिह्न प्रयोग में लाए जाने लगे।

12वीं शताब्दी में शारंगदेव लिखित 'संगीत रत्नाकर' में स्वरलिपि युक्त अनेक गीत दृष्टिगोचर होते हैं उनके स्वरलिपि चिह्न इस प्रकार है -

1. मध्य सप्तक में– कोई चिह्न नहीं।

2. मंद्र सप्तक में–स्वर के ऊपर बिन्दु।

3. तार सप्तक में– स्वर के ऊपर खड़ी लकीर।

17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पं. सोमनाथ ने 'राग विवोध' के पांचवे अध्याय में तंतु वाद्यों के लिए 23 चिह्नों का प्रयोग उसमें स्थिर अवकाश उसी प्रकार मृदु-मन्द्र स्थान व कठिन तार स्थान दिखाने के लिए क्रमशः स.सं, सं आदि चिह्नों का प्रयोग किया है।

इसके पश्चात् कुछ विद्वानों ने अपनी पुस्तक में स्वरलिपि का प्रचार किया लेकिन उनकी पुस्तकें प्रायः उर्दू में थीं जैसे कि 'सरमई इशरत' उन्होंने अपनी पुस्तक (वादन) में सितार की स्वरलिपि का प्रयोग किया है। सितार के बोल दा, दिर, दा, दा,

---

शोध छात्रा, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

इस प्रकार दिए गए हैं और ताली खाली को शब्दों में लिखकर दर्शाया गया है -

थाट-भैरव

ताली की संख्या-1 ताली 2 ताली खाली 3 ताली

सितार के बोल - दिर दा दिर दा रा दा दा रा दिर दा दिर दा रा दा दा रा

खण्ड–12 12 9 8 7 8 9 9 8 7 6 7 5 5-7 5 6

'नाद निनाद' ग्रन्थ में भी स्वरलिपि का प्रयोग सितार के बोल में देखने को मिलता है -

श्रुति संख्या– 4 4 4 4 5 5 5 4 5 5 4

बोल - दा दा रे दा दिर रे दा दिर रे दिर रे

स्वर - रे ग रे म प प प म प प ध

13वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक संगीत कला ऐसे लोगों के हाथ में गई कि पं. भरत, शारंगदेव आदि के ग्रन्थ समझने अथवा ग्रंथ निर्माण करने के वे पात्र नहीं थे। इसका परिणाम यह हुआ कि संगीत केवल मर्यादित लोगों तक ही पहुँचा तथा स्वरलिपि पद्धति का प्रयोग कुछ काल के लिए समाप्त हो गया। इसके उपरान्त स्वरलिपि पद्धति के विचार की दृष्टि से जो काल आता है वह खाँ साहब मौलाबख्श का काल था।

आधुनिक काल में खाँ साहब मौलाबख्श ने सर्वप्रथम स्वरलिपि निर्माण की। उन्होंने पाश्चात्य संगीत के कुछ चिह्न एवं स्वयं निर्मित चिह्नों का मेल करके एक स्वतंत्र स्वर लिपि पद्धति का निर्माण किया। उनके निर्माण किए हुए चिह्न इस प्रकार है–

1. मंद्र स्वर - ◠•
2. तार स्वर - •‾•
3. मध्य स्वर - कोई चिह्न नहीं।
4. कोमल स्वर - √

ताल में सम का चिह्न स्वर के नीचे (-) लकीर, खाली के लिए >, कोई पक्ति दो बार गाने के लिए ◠◠

खाँ साहब के बाद भारतीय संगीत में स्वर लिपि के दूसरे जनक पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर थे। इनकी स्वरलिपि एवं ताल पद्धति इस प्रकार है-

1. मध्य सप्तक व शुद्ध स्वर के लिए कोई चिह्न नहीं।
2. कोमल स्वर - रे, ग
3. मंद्र स्वर - नि̲, ध̲
4. तार स्वर - स̄, र̄
5. तीव्र स्वर - म́

मात्रा के लिए चिह्न -

1. चार मात्रा के लिए - स
2. दो मात्रा के लिए - स
3. एक मात्रा के लिए - सा
4. आधी मात्रा के लिए - पुं
5. 1/4 मात्रा के लिए - मु
6. 1/8 मात्रा के लिए -
7. स्वरों के लिए अवग्रह - स ऽ ऽ प
8. गीत के अक्षरों के अवग्रह के लिए - रा 0 0 म
9. सम - 1
10. खाली - +
11. अन्य ताली क्रमशः उनकी गिनती का प्रयोग करते हैं जिन गिनतियों पर ताल लगानी होती है।

इसी समय में भातखण्डे जी ने भी अपनी स्वरलिपि एवं तालिपि पद्धति का निर्माण किया जो सभी लिपि पद्धतियों में सबसे सरल थी जिस कारण यह अधिक प्रचलित हुई। इनके चिह्न इस प्रकार है -

1. शुद्ध स्वर - कोई चिह्न नहीं।
2. कोमल स्वर - रे̲, ग̲
3. तीव्र स्वर - म
4. मंद्र स्वर - नि, ध
5. तार - सां, रें
6. गीतों के शब्द के लिए - ऽ ऽ ऽ ऽ ाह
7. स्वरों के लिए - पड़ी रेखा
8. मींड के लिए - सा प
9. कण के लिए - ◡
10. एक से अधिक स्वर - पधमप
11. सम - ग
12. खाली - 0
13. अन्य तालियों के लिए - 2, 3, 4

इसके अतिरिक्त भी अन्य स्वर लिपि एवं तालिपि बनाई गई परन्तु वह सब इतनी प्रचलित नहीं हुई। इसके कई उदाहरण हैं जैसे 'ताल अंक संगीत' जो कि 'संगीत कार्यालय, हाथरस' से प्रकाशित में "मौलाना मिसदाह अहमद" "ज्ञानी" ने अपने लेख 'ताल क्या है' में ताल के चिह्न इस प्रकार दिए गए हैं -

झपताल -

ग ग 0 ग

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10

धिन ना धिन धिन ना तिन ना धिन धिन ना

इसमें ताल के चिह्न ताल के ऊपर लगाए गए हैं और ताली के चिह्नों में सब जगह सम के चिह्न का प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार 'श्री आनन्दराम सिंह 'तोमर' दुरपा' ने अपने लेख 'तबले के कुछ प्रचलित बोल' में चिह्न इस प्रकार दिए हैं -

चौताला (12 मात्र)

ग 0 । 0 । ।

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

धा धा दिं ता किट धा दिं ता तिट कत गदि गन

इसमें भी चिह्न ताल के ऊपर है तथा जहाँ-जहाँ ताली है वहाँ खड़ी लकीर का चिह्न दिया गया है।

इस प्रकार 'ताल दीपिका' पुस्तक में कुछ तालों के ठेके दिए गए हैं जिनमें खाली का अलग विभाग नहीं है। खाली के विभाग को एक पहले के ताली के विभाग के साथ जोड़ दिया गया है -

16 मात्र का ठुमरी का ठेका -

\+ । 0 ।

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14 1516

धा धिन ऽक्र धिन धा धिन ऽक्र धिन धा तिन ऽक तिन् ता धिन ऽक्र धिन

इसमें सम का चिह्न + है खाली का कोई अलग विभाग नहीं है तथा अन्य ताली के लिए खड़ी लकीर का चिह्न है। 'ताल मंजरी' पुस्तक में तीन ताल एवं चार ताल के चिह्न -

तीन ताल -

\+ 3 0 1

। । । । । । । । । । । । । । । ।

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14 15 16

चारताल में बंदिश -

\+ 0 1

। । । । । । । । । । । । । । । ।

धा केटे त केटे तका केटे धा केटे त केटे तका केटे

0 2 3

गदि गन नागे धटे धागे तेटे केटे तक तागे तेटे केटेतक

इसमें हर बोल के ऊपर खड़ी लकीर का प्रयोग किया गया है, सम के लिए ÷ खाली के लिए 0 का प्रयोग किया है इसमें विभाग नहीं बनाए गए हैं।

अतः विभिन्न प्रकार की स्वर एवं ताल लिपि पद्धतियाँ हमारे संगीत जगत में आई जिनमें से जो सरल एवं सुगम थी वह अधिक प्रचलित हो गई। बाकि पद्धतियाँ जटिल एवं कठिन होने के कारण अधिक प्रचलित न हो सकी। वर्तमान में हम सभी भातखण्डे स्वर लिपि पद्धति का प्रयोग करते है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. शर्मा भगवतशरण, ताल प्रकाशन
2. सिंह आनन्दराम 'तोमर दुरपा' लेख 'तबले के कुछ प्रचलित बोल'
3. मृदंगाचार्य मन्नूलाल, ताल दीपिका
4. वर्मा, मुंशी भृगुनाथ, ताल मंजरी।

स्वतंत्र बाँसुरी वादन का प्रयोगात्मक आधार

शनिश कुमार ज्ञावाली

भारतीय शास्त्रीय संगीत में गायन, वादन और नृत्य तीनों का समावेश होता है। गायक अपने कंठ से वादक अपने वाद्य से तथा नर्तक अपने शरीर में संगीत का अनुकरण करता है और इन तीनों का संयुक्त रूप संगीत है। वर्तमान काल में कलाकारों में स्वतंत्र गायन, वादन और नृत्य की परम्परा देखने को मिलती है। चूंकि मेरा प्रयोजन कार्य स्वतंत्र बाँसुरी वादन पर है इसलिए मैं स्वतंत्र बाँसुरी वादन का प्रयोगात्मक आधार पर विवेचन करूंगा।

भारतीय शास्त्रीय संगीत राग आधारित संगीत है। संगीत में ताल तथा राग दोनों पक्षों का विशेष महत्व होता है। रागों का स्वर स्थान नियम जिस प्रकार एक गायक अपने कंठ के द्वारा अनुकरण करता है उसी प्रकार एक वादक भी अपने वाद्य की सहायता से उस राग का अनुकरण करता हैं

कालांतर से अभी तक बाँसुरी में अनेक परिवर्तन हुआ। वैदिक संगीत, नाट्य, वृन्दवादन के साथ-साथ आज के वर्तमान समय में एक स्वतंत्र रूप में प्रयोग किया जाता है।

वाद्य का स्वतंत्र रूप तभी सम्भव होता है जब भारतीय शास्त्रीय संगीत के मानक को हम स्थापित कर सके।

जब हम शास्त्रीय संगीत की चर्चा करते हैं तो यह एक रागों का संगीत है। इसके स्वरों के नियम है और इन नियमों का हम सही ढंग से पालन करते है तो राग का अस्तित्व दिखने लगता है।

बाँसुरी वाद्य का वर्णन आदिकाल से लक्षण ग्रन्थ, वेद और पुराणों में हमें प्राप्त होता रहा है तथा भारतीय लोक संगीत के विभिन्न प्रांतों से इसका विभिन्न रूप प्राप्त होता रहा है। कही पाविका, वेणु, तुरही, मुरली, वंश, वंशी, बाँसुरी आदि अनेक नामों के द्वारा इसे जाना जा रहा है।

शास्त्रीय मंचों में इसको स्थान प्राप्त कराने का श्रेय सर्वप्रथम स्व. पं. पन्ना लाल घोष जी को जाता है।

आतोघं सुषिरं नाम ज्ञेयं वंशकृतं बुधैः।
वैण एवं विविस्तत्र स्वरग्राम समाश्रयः।

बधुजन बांस से निर्मित या रन्ध्र युक्त बांस को सुषिर वाद्य जाने, जिसकी स्वर, ग्राम आदि में होने वाली विधियाँ वीणा के समान ही होती है।

द्विकत्रिक चतुवकास्तु ज्ञेया वंशाः स्वराः।
कम्पमानाध्रमुक्तश्रच व्यस्तमुक्तास्थैवच।।

वंश या सुषिर वाद्य का वादन फुत्कार या मुंह की हवा से किया जाता है। भरतकालीन कुतुप में वंशी का प्रमुख स्थान वीणा के साथ-साथ रखा जाता है। यह एक अंगवाद्य माना जाता है। वंशीवादन वीणा का अनुगामी माना जाता है। वंशी का निर्माण बांस से ही सर्वप्रथम होने के कारण 'वंश' इस वाद्य की संज्ञा भी रखी गयी। भरत मुनि के उत्तरकाल से आज तक सुषिर वाद्य के अनेक उपकरण विकसित हुए किन्तु 'वंशी' का स्थान फिर भी तथैव महत्व रखता है। वंशी में होने वाले स्वर द्विक, त्रिक, चतुष्क कम्पित तथा व्युक्त होते है।

भरतमुनि ने यह स्पष्ट कहा कि जैसे वीणा का वादन होता है वंशी भी उसी प्रकार का वादन होता

एम.फिल., संगीत शास्त्र विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

है। भरत के काल में नाट्य में संगीत के लिए कुतुप की संज्ञा दी है इसमें–

तते कुतपविन्यासों गायनः सपरिग्रहः।
वैपचिंको वेणिकश वंश वादक एवं च।।

तत कुतप के प्रयोग में गायकों के साथ विपंची (चित्र) और बाँसुरी (आदि) के साथ बैठना होता है।

प्रयोगरित्रिविधो ह्येषां विज्ञेयों नाटकाश्रयः।
तत ङ्कौवावनद्धङ्का तथा नाटयकृतङ्का यः।।3।।

(1) तत् (2) अवनद्ध (3) नाट्य इनका सामान्यतः नाटय प्रयोग की दशा में उपयोग होता है।

कुतुप और वृन्द आदि पर विचार करते समय हमें सर्वप्रथम भारतीय संगीत की आत्मा और प्रकृति पर ध्यान देना होगा। प्राचीन काल में यहां संगीत के लिए प्रायः 'गान्धर्व' संज्ञा का प्रयोग किया जाता था, जिसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से गायन एवं वादन होते थे।

भारतीय संगीत की प्रकृति गायन प्रधान रही है। वाद्यों पर गायन का ही अनुकरण किया जाता था–**नृत्तं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति चअतो गीतं प्रधानत्वादत्रदवभिधीयते।**

संगीत रत्नाकर, पहले अध्याय, पदार्थ संग्रह मध्यकालीन संगीत ग्रंथों में वर्णित 'वृन्द' पर चर्चा करेगें। वृन्द की परिभाषा विभिन्न ग्रन्थों में इस प्रकार दी गई है।

मिलित्वा बहुभिर्यस्तु गीतं गायति गायनः।
स वृन्दगायनस्तेषां पूर्वः पूर्वो भवेद् वरः।।
संगीत समय सार, नवम् अध्याय 'गातृवादक संहातों वृन्दमित्यमिहीयते'
संगीतरत्नाकर, तीसरा प्रकीर्णक अध्याय 'गातृवादकसङ्घातो वृन्द इत्यभिधीयते'।
दामोदर (भरत कोष पृ. 422)

गातृणां वादकानां च समूहो वृन्दमुच्येत
संगीत राज, प्रथम पाठ्यरत्नकोष संज्ञापरीक्षणम्

शारंगदेव ने संगीत रत्नाकर ग्रन्थ के प्रकीर्णक अध्याय में वृन्द के तीन भेदों उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ पर विस्तार पूर्वक चर्चा की।

वृन्द

वृन्द के भेद	मुख्य गायक	सम गायक	गायिकायें	वंशी वादक	मृदंग वादक	कुल संगीतज्ञ
1. उत्तम	4	8	12	4	4	36
2. मध्यम	2	4	6	2	2	16
3. कनिष्ठ	1	3	4	2	2	12

शारंगदेव के संगीत रत्नाकर में वाद्याध्याय में वंशीवाद्य पर विस्तृत विवेचन मिलता है शारंगदेव ने वंशी के 14 भेद बताये है।

1. एक वीर, 2 उमापति, 3 त्रिपुरूष, 4. चतुर्मुख, 5. पंचवकत्र, 6 शण्मुख, 7. मुनि, 8. वसु, 9 नायेन्द्र, 10. महानंद, 11. रूद्र, 12 आदित्य, 13. विश्वमूर्ति, 14. मनु

वंशीवादन के दृष्टि से शारंगदेव ने पांच गतियों का उल्लेख किया है-

1. केपिता, 2. वलिता, 3. मुक्ता, 4. अर्धमुक्त, 5. निपिड़िता

वंशीवादन कैसा होना चाहिए शारंगदेव का यह श्लोक -

अध्वन्यानां प्रवासेषु कामिनीनिर्जितेषु च।
शोकार्तेषु प्रयुंजीत मृदुमव्यलयध्वनिम्।।
वंशे प्रयुंजीत श्रृङ्गारे द्रुतादिललितध्वनिम्।
कम्पितस्फुरितध्वानं वंशे द्रुतलयाश्रयम्।।
क्रोधाभिमानयोः कुर्यान्मतंगेनेति कीर्तिम्।

संगीत रत्नाकर वाद्याध्याय

स्त्रियों के मन को जीतने के लिए एवं शोक के समय वंशीवाद्य पर मृदु और मध्य लय से युक्त ललित ध्वनि वादन करना चाहिए एवं क्रोध तथा अभिमान के अवसर पर द्रुत लय में कम्पित और स्फुरित ध्वनि का वादन करना चाहिए।

शारंगदेव ने फूत्कार (फूंक) के निम्नलिखित 12 गुणों का उल्लेख किया है।

1. स्निग्धता, 2. धनता, 3. रंजकता, 4. स्पष्टता, 5. प्रचुरता, 6. लालित्य, 7. कोमलता 8. नादानुरण, 9. त्रिस्थानत्व, 10. श्रावकत्व, 11. मधुरता, 12. सावधानता।

शारंगदेव ने फूत्कार के दोषों पर भी चर्चा की है आपने वंशीवादकों के गुण और दोषों पर समुचित चर्चा की है। शारंगदेव ने वांशिक वृन्द पर भी

विधिवत चर्चा की है। उन्होंने बतलाया है कि वांशिकवृन्द में एक मुख्य वंशीवादक होता है और उसके चार अनुयायी वंशीवादक होते है। इसके पश्चात् उन्होंने वंशी पर तत्कालीन मध्यमादि, मालवक्षी इत्यादि शमो की वादन विधि का भी उल्लेख किया है।

शारंगदेव ने वंशी वाद्य का वर्णन जितना विस्तार से अपने ग्रन्थ में किया है उतना अन्य किसी ग्रन्थकार ने नहीं किया है।

शारंगदेव के समकालीन पार्श्वदेव ने अपने ग्रन्थ संगीत समयसार में वंशी के निम्नांकित चार भेदों का उल्लेख किया है- 1. जय, 2. विजय, 3. नंद और 4. महानंद

जय, विजय, नंद और महानंद नामक वंशीवाद्य उत्तम कोटि के होते है इन वंशियों के दार्शनिक पक्ष की चर्चा करते हुए यह भी बतलाया गया है कि जय पर विष्णु, विजय पर रवि, नंद पर रूद्र तथा महानंद पर ब्रह्मा का निवास होता है।

अन्य ग्रन्थकारों - तुलजा नरेश, दामोदर पंडित, वेभभूपाल, हरिपाल, कुंभकर्ण, सवाई प्रताप सिंह, देव आदि ने वंशीवाद्य के सम्बन्ध में शारंगदेव की बातों का ही अनुकरण किया है।

शास्त्रीय संगीत में स्वतंत्र वादन के लिए इस वाद्य को प्रतिष्ठित करने का श्रेय स्व. पन्नालाल घोष को जाता है। किसी भी स्वर वाद्य का स्वतंत्र वादन आधार उस वाद्य के सम्पूर्णता पर निर्भर करता है। वह एक गायक के भांति अपने वाद्य पर संगीत का अनुकरण करता है।

आधुनिक काल में उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में गायकी और गतकारी शैली का आरम्भ हुआ। बांसुरी वादन इन दोनों शैलियों का अनुकरण करता है इसमें गायन तथा वीणा दोनों प्रकार से वादन किया जा सकता है।

कालान्तर में बांसुरी के आकार परिवर्तन हुआ इसे हर वाद्य के स्वर स्थान के आधार पर निर्माण हुआ आज हमें हर स्केल में बांसुरी प्राप्त है।

जिसके आधार पर हम पुरूष गायक, महिला गायक और किसी वाद्य के साथ वादन कर सकते है।

गायन के भांति श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, गमक, सप्तक सभी सांगतिक तथ्यों का हम कुशलता के साथ प्रयोग कर सकते है और इन सभी सांगीतिक तथ्यों का ज्ञान हम विना एक कुशल गुरू के नहीं कर सकते है। किसी भी स्वतंत्र वाद्य के स्वतंत्र वादन के प्रयोगात्मक आधार के लिए हमें सर्वप्रथम गायन और ताल का ज्ञान होना बहुत आवश्यक होता है। क्योंकि इन दोनों के आधार पर उस वाद्य को गायन का अनुकरण कर सकते है और ताल यह हमारे संगीत का प्राण है। इसी के आधार पर हम अपने संगीत के प्रति दृष्टि करते है।

निश्चय ही आज का बांसुरी हमारे लक्ष्ण ग्रन्थों के प्राप्त संकलनों के जैसा ही है। प्राचीन से आधुनिक तक उसके नाद में हमें वहीं माधुर्य प्राप्त होता रहा है।

प्रयोगात्मक रूप से बाँसुरी वादन में जैसा की हम उपर बता चुके है कि गायन और गतकारी दोनों प्रकार का वादन सम्भव है। उदाहरण के लिए राग भूपाली के गायन बन्दिश को हम बाँसुरी पर एक गायक के जैसा ही वादन कर सकते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. शास्त्री श्री बाबू लाल शुक्ल, नाट्य शास्त्र, चौखम्बा संस्कृत, 1985 ई.
2. चौधरी प्रो. सुभद्रा राधा, संगीत रत्नाकर-I, III पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली
3. जायसवाल प्रो. राधेश्याम,भारतीय सुषिर वाद्यों का विवेचनात्मक अध्ययन, वाराणेसय संस्कृत संस्थानम्, 1983
4. जायसवाल प्रो. राधेश्याम, भारतीय संगीत में कुतप, वृन्द एवं आर्केस्ट्रा की परम्परा, कला भैरव XVI (वर्ष 2006-07)
5. भारतीय संगीत की समृद्ध वंश परम्परा, संगीत पत्रिका, संगीत कार्यालय हाथरस, 1994 ई0
6. नाथ डॉ. प्रहलाद, शर्मा डॉ. शिवराम, व्यक्तिगत साक्षात्कार

उत्तर प्रदेश के लोक-संगीत की एक सुहावनी विधा : कजली

तनुजा श्रीवास्तव

सावन का महीना! आकाश में काली घटाएँ एकदम नीचे तक झुक आई है, चारो ओर बिजली चमक रही है और रिमझिम बूँदे गिर रही है- बगीचों में रंग-बिरंगें झूले टँगे हैं जिन पर युवतियाँ झूल रही है। किसी अमराई से तिरती हुई कुछ पंक्तियाँ कानों में गूँजती हैं :-

झुअुला झूलै सखी झमाझम,
सावन झम-झम बूँद झरै।
उरझि रही पिय के हिय कमिन,
गल हुमेल लहरैं।
झोंका खाय कान में झूमक,
झुलनी नथ थहरै

सरस सावन, आँखों को सुख पहुँचाने वाली मखमली हरियाली, रिमझिम फुहार-इनका असल चित्र वस्तुतः कजली में ही मिलता है। वैसे देखा जाए तो अधिकांश लोक-गीत किसी न किसी ऋतु अथवा त्योहार के होते है। वर्षा ऋतु के आने पर लोगों के मन में जिस नए उल्लास एवं उमंग का संसार होता है, उनको अभिव्यक्त करती है कजली। इसी कारण इसे वर्षा के साथ मनुष्य तादात्म्य का सुर में साज में और छंद में आलाप कहा गया है। सावन-भादों के महीने में बनारस, मिर्जापुर और इनके निकटवर्ती इलाके कजली में गूँजते हैं न केवल स्त्रियाँ, बल्कि पुरुष भी कजली गाते हैं और बड़े उत्साह से गाते हैं।

कहा जाता है कि कजली का नामकरण सावन के काले बादलों के कारण पड़ा है। 'भारतेन्दु' के अनुसार, मध्य प्रदेश के दादूराय नामक लोकप्रिय राजा की मृत्यु के बाद वहाँ के स्त्रियों ने एक नए गीत की तर्ज का आविष्कार किया, जिसका नाम 'कजली' पड़ा। कुछ लोग कजली वन से भी इसका संबंध जोड़ते हैं। पं. बलदेव उपाध्याय के विचार में आजकल की कजली प्राचीन लावनी की ही प्रतिनिधि है। कजली का संबंध एक धार्मिक तथा सामाजिक पर्व के साथ जुड़ा हुआ है। भादों के कृष्ण पक्ष की तृतीया को कजली व्रत पर्व मनाया जाता है। यह स्त्रियों का मुख्य त्योहार हैं स्त्रियाँ इस दिन नए वस्त्र आभूषण पहनती है, कजली देवी की पूजा करती है और अपने भाइयों को 'जई' बाँधने के लिए देती है। उस दिन वे रात-भर जागती (इसे 'रतजगा' कहते है) और कजली गाती है।

कजली के भी दंगल होते हैं

कजली के कई अखाड़े भी होते है। प्रत्येक अखाड़े का अलग-अलग गुरु (शायर) होता है और उनके शिष्यों की परंपरा लंबी होती है। ज्येष्ठ शुक्ल दशमी (गंगा दशहरा) को अखाड़ों में ढोलक का पूजन करके कजली शुरू होती है और अनंत चतुर्दशी को समाप्त की जाती है। कुछ अखाड़ों में आश्विन-कृष्णाष्टमी तक कजली गायन चलता है। पहले सभी अखाड़े कजली गाते हुए स्थानीय नदेसर

शोध छात्रा नृत्य विभाग संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मुहल्ले में इकट्ठे होते थे और यहाँ रात-भर कजली गाई जाती थी। दो गुरु-घरानों में कजली-प्रतियोगिता भी होती थी। एक अखाड़ा दूसरे अखाड़े को इलायची भेंट करके निमंत्रण देता था।

कजली मिर्जापुर सरनाम

मिर्जापुर की कजली काफी प्रसिद्ध है। इस संबंध में एक कहावत प्रचलित है- 'लीला रामनगर की भारी, कजली मिर्जापुर सरनाम। अष्टभुजा के ऊपर का पर्वत वर्षाकाल में और भी सुंदर हो जाता है। नीचे पुण्यसलिला गंगा, बहुत दूर तक विन्ध्यमाला, चारों-ओर छाए हुए काले-काले मेघ-मिर्जापुर की कजली की मादकता इनसे और बढ़ जाती है और प्रसिद्ध कवि प्रेमधन कह उठते हैं-

साँचहुँ सरस सुहावन, सावन गिरिबर विंध्याचल पै रामा,
हरि-हरि मिर्जापुर की कजरी लागे प्यारी रे हरी।

यहाँ नागपंचमी के पहले झूले पड़ जाते हैं। कजली तीज को 'कहरवा ताल' पर रातभर कजली उत्सव होता है, जिसे सुनने के लिए श्रोताओं की अपार भीड़ होती हैं बहुत से लोग बनारस से भी आते हैं और रात भर घूम-घूमकर कजली सुनते है। यहाँ के कजली शायरों में वफ्फत, सूरा, हरीराम लक्ष्मण, मोती आदि के नाम लिए जाते रहे हैं। वफ्फत की एक कजली सुमिरन की कुछ पंक्तियाँ देखिए :-

हमेशा भजा करो तू हरी, हरी बिन कोई न जल्दी तरी।
तरी जब भजी हरी हर घड़ी हमारे प्यारे बलमू।
हर घड़ी लिया कर नाम, नाम से तेरा बनी सब काम।
काम न गल्त एक हू पड़ी हमारे बलमू।।

लक्ष्मण मिर्जापुरी ने विरहिणी राधा का कैसा मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है :-

नहिं आए घनश्याम, घेरि आई बदरी।
बैठी तीरे बृज-बाम तू न मेरी लाज-धाम।
आई सावन की बहार, मुझे मोरवा पुकार,
पड़े बुन्दन फुहार, घेरि आई बदरी।
कान्हा हमें बिसराय, रहे सौतन लगाय,
करी कौन उपाय, घेरि आई बदरी।

मिर्जापुर की कजली का एक अपना रंग है और बनारस की कजली का एक अलग रंग। इन दोनों रंगों में से कोई एक दूसरे से कम नहीं। स्त्रियों द्वारा गाई जाने वाली कजलियों में अब भी वास्तविक सौन्दर्य और माधुर्य सुरक्षित हैं; दंगल में अब कजली का स्थान धीरे-धीरे कव्वाली लेती जा रही है। पहले कजली गाते समय हारमोनियम का इस्तेमाल नहीं होता था, अब हारमोनियम भी बजाया जाता है। भय है, कई कजलियों का वास्तविक स्वरूप ही न समाप्त हो जाए। इसलिये आवश्यकता है कि इन विधाओं को इनके मूल रूप में संरक्षित किया जाये।

शास्त्रीय संगीत के ताल वाद्यों में लोक रंग के समाहित तत्व

पूजा विश्वकर्मा

लोक संगीत में वाद्य यंत्रों का विशिष्ट महत्त्व है विशेषकर लोक नृत्यों के वाद्य प्राण समझे जाते है वाद्य यंत्र ही लोक संगीत में ताल, लय और स्वर को नियंत्रित करते हैं। लोक संगीत में वाद्यों का महत्त्व शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा बहुत अधिक होता है, विशेष रूप से ताल वाद्यों का विकास लोक संगीत के साथ-साथ हुआ तथा एक ही प्रकार के वाद्यों को अलग-अलग आकृति एवं नाम प्राप्त हुआ। लोक संगीत की दो धाराएं है एक धुन की तथा दूसरी उसमें वाद्यों की। ताल वाद्यों के अन्तर्गत धन तथा अवनद्य वर्गों में वाद्य आते हैं चाहे वह लोक गीत हो अथवा लोक नृत्य। वाद्यों की आवश्यकता दोनों के लिए समान लोक गीतों एवं लोक नृत्यों में प्राण डालने वाले वाद्य ही होते हैं जिनके बिना दोनों ही निष्प्राण प्रतीत होते हैं जैसे फाग में ढोलक, नौटंकी में नक्कारा, तमाशा में ढोलकी, कहारो के गाने में हुडुक बज उठते हैं तब लय के मदमाते झोंके मनुष्य के अंग-अंग को झूमा देता है। लोक संगीत की सहजता और उसका सौन्दर्य किसी से छिपा नहीं है भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियों के लिए अनगिनत वाद्य यंत्र पाये जाते है रामलीला के एक दुर्लभ पद में अनेक वाद्ययंत्रों के नाम गिनाये है। डौरू, ढोल, डफ टंकार, डिमडिमि, खंजरि, नगार, झांझ मंजरि, झंकार, बिगुल, बीन, ताल, तूरतूरा, ताम्बूरा, तोरही, तरंग, नस तरंग जल तरंग, बीन, रसबीन, फूकबीन, परवावज, मृदंग, मुरली, मुहनल, ताल करताल, तबल, तबला, तोंबी, तयूरू, सितार, घुंघरू, नफीरी, घट, कानुन आदि।

अति प्राचीन काल का ताल केवल एक निश्चित गति का चित्रण मात्र था क्रमशः ताल वाद्यो की विविधता तथा प्रभाव सम विषम ताल प्रभाव का विकास मानव रूचि का परिचायक है इसी लोक रूचि के कारण तालों को वर्तमान स्वरूप प्राप्त हुआ।

मध्यकाल से ही संगीत लोक रूचि के अनुसार तथा परिस्थिति में अनुसार दो अलग धाराओं से विकसित होता रहा एक मंदिरों या मठो के आश्रय के माध्यम से तथा दूसरा राजाश्रय के माध्यम से। मठों या मंदिरों में जिस प्रकार का संगीत रहा उसके अनुसार वहां छोटे तालों का विकास हुआ तथा राजाश्रय में पनपे संगीत में राजा महाराजाओं में रूचि के अनुसार गीत प्रकारों में प्रयुक्त तालों का अधिक विकास हुआ। मंदिरों में जिन गीत शैलियों का विकास हुआ उसके लिए तद्नुरूप तालों के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई। सामान मात्रिक काल होते हुए भी गीत के वनज या छन्द के अनुसार समान मात्रिक तालों का निर्माण हुआ जैसे आठ मात्रिक ताल में कहरवा, धुमाली अद्धा जत आदि समान मात्रिक अलग-अलग तालों का निर्माण हुआ उसी प्रकार धुपद्र गायन के लिए खुले थाप से बजने वाले बारह मात्रा के चौताल ताल के तथा समान 12 मात्रिक वाले बोलों एकताल का निर्माण

शोध छात्रा, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

ख्याल गायकी के लिए किया जाता है यह लोक रूचि में कारण ही हुआ। ध्रुपद के चौताल ताल का स्थान ख्याल गायम में लोक रूचि के आधार पर ही एकताल ने ले लिया। मात्र खण्ड ताल क्रिया आदि समान होते हुए भी चौताल के स्थान पर एक ताल की लोक रूचि संगीत में परिवर्तन का कारण बनी।

प्राचीन काल तथा पूर्व मध्यकाल अवनध वाद्य का प्रयोग संगीत में रंजकता एवं रस की निष्पत्ति के लिए किया जाता था। ताल धारण ताल बाद्य से धुन बाद्य के अन्तर्गत आता था।

13वीं सदी के अलाउद्दीन खिलजी के दरबारी कलाकार अमीर खुसरों ने पश्तों जत आड़ा चार ताल, झूमरा आदि तालों का तथा उनके ठेकों का अविष्कार किया।

14वीं सदी के पूर्वाध में एक मात्रिक से 16 मात्रिक तालों का निर्माण कर उनमें से किन्ही दो तालो के निश्चित पाटवर्णों के निर्देश दिये हैं जिन्हें हम आधुनिक ठेका अथवा बोल कह सकते हैं।

15 व 16 सदी में मुस्लिम प्रभाव के फलस्वरूप मुगल बादशाहों तथा राजे रजवाड़े के मनोरंजन के लिए संगीतकारों, को राजाश्रय प्राप्त हुआ। उन्हें श्रृंगारिक गीतो के प्रचलन के लिए प्रोत्साहित किया गया। इस कारण ठुमरी टप्पा ख्याल, आदि के लिए बड़े तालों एवं गजल दादरा सादरा कव्वाली आदि के लिए छोटे तालों का निर्माण होकर उन तालों का चलन अधिक प्रमाण में प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारत में तालों के विकास की दृष्टि से जहां एक ओर शास्त्रीय संगीत में बड़े तालों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ वहीं सुगम संगीत भक्ति संगीत में छोटे तालों का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था।

उत्तर भारत ताल लिपि पद्धतियों में पं. भातखण्डे एवं पं. पलुस्कर ताल लिपि पद्धतियां प्रचलित है वर्तमान संगीत में प्रयुक्त तालों को गीतो के अनुसार 5 श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

1. ध्रुवपद अंग में ताल - चौताल, सूलताल, तीव्रा ताल आदि ।

2. धमार अंग में ताल - धमार ताल

3. ख्याल अंग के ताल - तिलवाड़ा, एकताल झूमरा, झपताल आदि।

4. टप्पा अंग के ताल - पंजाबी मध्यमान (बंगाल) झपताल आदि।

5. ठुमरी अंग के ताल - दीपचन्दी अद्धा आदि।

6. सुगम एवं लोक संगीत के ताल - कहरवा, दादरा, रूपक धुमाली, पश्तो अद्धा आदि।

लोक संगीत में गाये जाने वाले गीतों में श्रृंगार रस, वीर रस, भक्ति रस, मांगलिक गीत आदि कई प्रकार के गीतों का समावेश होता है जो आम लोगों को आन्नदित करके भाव विहवल कर देता है।

लोक संगीत के कुछ गीत प्रकार

1. विवाह आदि के समय गाये जाने वाले - घोड़ी बन्ना माडव, भात गारी
2. खेत जोतते समय - निर्वही आदि
3. बच्चे जनने के समय - सोहर आदि
4. विवाह गीत - बन्ना, बन्नी, झूमर आदि।
5. अन्य - सावनी, आल्हा, मांड चैती कजरी आदि।
6. भक्ति गीत - भजन, उमंग कथा गीत
7. श्रृंगारिक गीत - ठुमरी टप्पा दादरा, लावणीं आदि।
8. वीररस प्रधान गीत - पोवाड़ा, राष्ट्रगीत आदि।

लोक संगीत में शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा वाद्यों की और विशेषकर लय वाद्यों की संगीत अधिक होती है। सुगम संगीत में शब्दों के स्पष्ट उच्चारण के साथ साथ लयात्मकता का विशेष महत्त्व होता है।

लोक संगीत के साथ लय वाद्यों का प्रयोग करने वाले वादकों को ताल शास्त्रों का विधिवत ज्ञान तक नहीं होता तथापि वे इतनी सुन्दरता से संगत करते है कि लोग उनकी संगत से आश्चर्य चकित हो जाते हैं। उन ताल वादकों का यद्यपि शास्त्रोक्त ज्ञान नहीं होता है तथापि वे सुगम संगीत के साथ दो मात्रिक तीन मात्रिक, तीन मात्रिक चार मात्रिक या 2-3, 3-4, मात्रिक काल खण्डों का निर्वाह इतनी उत्तम लयात्मकता से करते है कि कभी कभी अच्छे-अच्छे ताल शास्त्र वादक भी वाह वाह कह उठते हैं इससे यह सिद्ध होता है कि सुगम संगीत लय प्रधान गायकी है। सुगम संगीत में बजाने

वाले ताल वाद्यों में धन तथा अवनध दोनों वाद्यों का प्रयोग होता है।

लोक संगीत के बजने वाले धनवाद्य

डंडिया,घड़ियाल थाल ताल झांज, तिमिर मंजीरा करताल रमझौला मुखचंग घुंगरू चिमटा तुनतुना आदि।

लोक संगीत में बजने वाले अवनद्य बाद्य

तबला, चंग, ढोलक, घेरा, ढफ, खंजरी, मादल, गुमका, नाल, डमरू, दमामा, धौसा, ढक, नगाड़ा, तासा, ढाक, धट, सम्बल आदि लोक संगीत में ताल वाद्यों का महत्त्व सर्वोपरि होता है तथा उनका विस्तार क्षेत्र भी अधिक है। लोक संगीत के वाद्यों की समस्त सामग्री प्रकृति जन्य होती है जिसमें मिट्टी काठ तथा खाल मुख्य होते है विशेष रूप से सन्थालों तथा भीलों के ताल वाद्य मादल, महाराष्ट्र लोक संगीत का ताल वाद्य ढोलकी जिसे आज कल नाल भी कहते है चमड़े कें मढ़े हुए ताल वाद्यों की खाल के उपर अथवा भीतर मिट्टी अथवा अन्य वस्तुओं के चूर्ण तैयार किये हुए मसालो के लेप भारतीयों की अपनी विशेष उपलब्धि है। चमड़े पर मसाला रखने के कारण उस खाल की ध्वनि में इतनी अधिक गॅूज होने लगी कि वह गायक के लिए आधार स्वर बन सकती है इसी आधार स्वर की वृद्धि के निमित्त ही शास्त्रीय संगीत में ऐसे ताल वाद्यों का प्रयोग विदित है जिसमें गूंज की अधिकता हो ।

भारतीय लोक संगीत के कुछ ताल वाद्यो में मसाले का प्रयोग होता है जिसमें उन वाद्यों की गूज बढ़ जाती है।

भारतीय लोक संगीत के ताल वाद्यों की बनावट मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती है-

1. जिसमें एक ओर खाल मढ़ी जाती है तथा दूसरी ओर का मुंह खुला रहता है इस प्रकार में डफ खजरी आदि आते हैं।
2. जिन्हें दोनों ओर खाल से मढ़ा जाता है इस प्रकार में ढोल हुडुक डमरू आदि आते हैं।
3. जिनमें एक ओर खाल मढ़ी जाती है तथा दूसरी ओर से उनका मुख बन्द रहता है इस प्रकार में नगाड़ा, नगड़िया ताशा, दुक्कड़ मटकी आदि आते हैं।

उपर्युक्त तीनों प्रकारों के वाद्यों के आकार उनके ढांचा निर्माण की वस्तु खाल में कसाव के ढंग बजाने के ढंग में अनेक भेद उपभेद पाये जाते है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. मिश्रा डॉ. लालमणी, भारतीय संगीत वाद्य
2. मिश्रा डॉ. अरूण, भारतीय कंठ का संगीत और वाद्य संगीत
3. बंसत, संगीत विशारद
4. मराठे मनोहर भाल चन्द्र, ताल वाद्य शास्त्र
5. सेन डॉ0 ए. के., भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन
6. मित्तल अंजलि, भारतीय सभ्यता संस्कृति एवं संगीत

वर्तमान समय में प्राथमिक तथा उच्च शिक्षण संस्थानों में संगीत की स्थिति का आकलन

संदीप कुमार पटेल

हमारे भारतीय संगीत की उत्पत्ति अध्यात्म से जुड़ी हुई हैं, प्राचीन समय में ऋषि मुनियों ने नाद की साधना आत्मा को पहचानने, अंतर्मुखी होने और ध्यान लगाने के लिए किये है। संगीत के जरिए ध्यान बहुत ही जल्दी लग जाता है। योग क्रिया में भी हम ध्यान लगाते है। संगीत साधना भी योग का ही एक मात्र तरीका है। क्योंकि अक्सर देखा जाता है कही भी योग शिविर आयोजित होता है तो उसके साथ संगीत के ध्वनि को अवश्य सुनाया जाता है ताकि ध्यानलीन जल्दी हो सके। बाद में धीरे-धीरे बदलाव होता गया और शास्त्र बन गया। संगीत शास्त्रीय हो गया और राग-रागिनियाँ आ गई। ध्यान योग से जुड़ संगीत दरबारो में और फिर जनता में आ गया।

संगीत में परिवर्तन :

ऋषि-मुनियों के समय से अब तक संगीत में काफी परिवर्तन हुआ। पहले संगीत ध्यान लगाने के लिए किया जाता था परन्तु अब संगीत मनोरंजन का साधन बन गया। आज कल तालीपीट संगीत हो गया है। तालीपीट कर एप्रीशिएट करने का तरीका शास्त्रीय संगीत से मेल नहीं खाता। जब कोई कलाकार राग स्वरूप वहां लाने की कोशिश कर रहे होते है, उस समय ताली बजती है तो जो स्वराकार बन रहा है वह सब भंग हो जाता है, इसलिए जब भी संगीत सुने तो उसकी मूल प्रकृति को ध्यान में रखकर सुने। मनोरंजन भी होगा और मानसिक शान्ति भी मिलेगी।

इस अध्ययन से वस्तुस्थिति का ज्ञान अवश्य होगा लेकिन इससे संगीत के विकास की दिशा में प्रगति होगी यह कल्पना करना अपेक्षित नही। संगीत के विकास में तो वास्तविक प्रगति तभी होगी जब जन साधारण का दृष्टिकोण संगीत के प्रति बदलेगा और संगीत के इतिहास में मध्य कालीन अन्धकार युग से चली आयी हुई मनोवृतियाँ बदलेंगी। यह विषय ध्यान देने योग्य है कि हमारे देश में एकेडमिक शिक्षा देने वाली संस्थाओं में केवल महिला संस्थाओं में ही प्रायः शत प्रतिशत संगीताध्यापन की व्यवस्था पाई जाती है। जिन संस्थाओं में सहशिक्षा की व्यवस्था है, उनमें संगीत शिक्षण का प्रबंध है परन्तु पुरूष छात्र अति अल्प संख्या में इस विषय का चयन करते है। पुरूषों की उदासीनता का कारण मात्र यही प्रतीत होता है कि उन्हें इस विषय से जीवन के अन्य व्यावसायिक क्षेत्रों में प्रवेश करने में सहायता नहीं मिलती। लड़कियाँ इसे अपने सहज कलाप्रिय प्रवृत्ति के कारण लेती है और प्रायः उनका लक्ष्य जीविको उपार्जन नहीं होता। जिनका लक्ष्य शिक्षिका बन कर जीवकोपार्जन होता है और पर्याप्त संख्या में सफल होती है। महिला संस्थाओं में महिला शिक्षिकाओं की नियुक्ति की प्रथा दिनोदिन दृढ़न्तर होती जा रही है। अस्तु महिलाओं को संगीत शिक्षिका के रूप में नियुक्ति प्राप्त करने में पुरूषों के अपेक्षाकृत कम कठिनाई होती है। इस दृष्टिकोण से भी महिलाओं में इस विषय के प्रति विशेष झुकाव है।

यह तथ्य विशेषकर अव्यवहारिक अथवा औपचारिक शिक्षा क्षेत्र (एकेडे-मिकल शिक्षा) में ही

शोध छात्र, संगीत एंव मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

घटित होता है। प्रातः और सायं चलने वाली संगीत कक्षाओं में संगीत सीखने वाले छात्र छात्राओं की संख्या बहुत अधिक होती है क्योंकि इन अनौपचारिक कक्षाओं में संगीत सीखने के इच्छुक एकेडेमिकल विद्यालयों के छात्र-छात्राओं और कार्यालयों में कार्य करने वाले व्यक्ति होते है और इन संगीत कक्षाओं में प्रवेश लेने का लक्ष्य संगीत को जीवनपयोगी कला के रूप में ग्रहण करना नही है अपितु मन बहलाने के साधन (Hobby) के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करना ही इनका लक्ष्य होता है। इन ही सब तथ्यों पर विचार करने के लिए प्रश्नोत्तरी के रूप में प्राप्त सूचनाओं के द्वारा विश्लेषणात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है और उन उत्तरों के परिप्रेक्ष्य मे वर्तमान स्थिति का अध्ययन किया गया है और भविष्य की संभावनाओं का अनुमान लगाने का प्रयास किया गया है।

संगीत के शिक्षण संस्थान (बनारस के संदर्भ में) :

इस क्षेत्र में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय सर्वोपरि है, सर्वप्रथम इसी का परिचय देना उचित होगा। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक पं. मदन मोहन मालवीय ने इस विश्वविद्यालय की स्थापना के पश्चात् शिक्षा के एक विषय के रूप में संगीत को अपने विश्वविद्यालय में प्रारम्भ करना चाहा। इसकी स्थापना सन् 1950 के समय इसका नाम ''श्री कला संगीत भारती'' रखा गया तथा पं. ओंकारनाथ जी को इसका प्रथम प्राचार्य नियुक्त किया गया था। इस संस्था का प्रारम्भिक पांच वर्ष संघर्ष के झकझोर से डंवाडोल तथा निराशा के आवरण से आच्छादित रहा। किन्तु 1955 ई.-56 ई. से तत्कालीन कुलपति डा. सर सी.पी. रामास्वामी अय्यर महोदय की प्रेरणा से इसके पुनर्गठन की जो योजना बनी उसके कार्यान्वित होने पर इसका वर्तमान स्वरूप निखरा।

सन् 1956 तक यहाँ गायन एवं वादन के प्रमुख विषयों में डिप्लोमा तथा बी.म्यूज. के पाठ्यक्रम चलाये गये। सन 1956 से एम.म्यूज. तथा सन् 1961 से डी.म्यूज. के पाठ्यक्रम प्रारम्भ हुए।

बी.एच.यू. से जुड़े चार महाविद्यालय-

1. बसन्त कन्या महाविद्यालय कमच्छा-इसमें गायन एवं सितार बी.ए. तक है।
2. बसन्ता कॉलेज फॉर वूमेन राजघाट-यहां भी गायन एवं सितार बी.ए. तक है।
3. आर्य महिला डिग्री कालेज मलदहिया-गायन एवं सितार बी.ए. तक है।
4. डी.ए.वी. कालेज कबीर चौरा-गायन, तबला एवं सितार बी.ए. तक है।

वाराणसी में बी.एच.यू. के अतिरिक्ति दो अन्य विश्वविद्यालय है-

1. महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ-यहां संगीत (गायन) में बी.म्यूज. एवं एम.म्यूज. के कोर्स चलाये जाते है। इस विश्वविद्यालय से जुड़े जगतपुर डिग्री कॉलेज में संगीत नहीं है।

2. डा. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय —यह संस्कृत का विश्वविद्यालय है, यहां पर केवल डिप्लोमा स्तर तक ही शिक्षा दी जाती है। यहाँ पूर्वान्चल विश्वविद्यालय से जुड़े कई महाविद्यालय हैं पर अग्रसेन डिग्री कालेज (गायन, सितार, तबला) एवं ज्ञानपुर डिग्री कालेज (गायन) को छोड़कर कहीं संगीत विषय नहीं है।

इण्टरमीडिएट कालेजों में संगीत की स्थिति इस प्रकार है- अग्रसेन इण्टरमीडिएट (गायन, सितार, तबला), हरिश्चन्द्र इण्टरमीडिएट कॉलेज (गायन), बल्लभ विद्यापीठ चौखम्भा (गायन, सितार), विपिन बिहारी इण्टर कालेज रामपुरा (गायन, सितार), रामेश्वरी गोयल इण्टर रामपुरा (गायन, सितार), जी. जी.आई.सी. कॉलेज (गायन, सितार), डी.एल.डब्ल्यू. कालेज (गायन, सितार), दुर्गा चरण गर्ल्स स्कूल (गायन), अन्धविद्यालय (गायन, सितार, तबला) इत्यादि।

उपरोक्त यू.पी.बोर्ड के कॉलेज के अतिरिक्त संगीत शैक्षिक विषय न होकर रूचि कक्षाओं में पढ़ाया जाता है। भारतवर्ष की प्रसिद्ध सांगीतिक संस्थाओं यथा प्रयाग संगीत समिति इलाहाबाद, प्राचीन कला केन्द्र चण्डीगढ़ इत्यादि के यहां अनेक केन्द्र है जहां से विद्यार्थी संगीत की विभिन्न विधाओं में उपाधि ग्रहण करते हैं।

संगीत की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् केवल दो ही मार्ग खुले रहते है, या तो मनुष्य कलाकार बने अथवा उच्च या निम्न वर्ग का अध्यापक बनकर जीवन यापन करें। इसके अतिरिक्त अन्य कोई द्वार व्यवसायिक दृष्टिकोण से उन्मुख नहीं दिखाई देता। कला कला के लिए है, इस प्रकार की भावना से प्रेरित होकर संगीत अध्यापन करने वाले एक प्रतिशत भी कठिनाई से मिलेंगे। कला अथवा किसी विद्या का अध्ययन जीवन पोषण के लिए आवश्यक समझकर ही प्रायः 99.9 प्रतिशत व्यक्ति उसके अध्यापन के लिए प्रेरित होते है। अतः व्यवसायिक दृष्टिकोण से संकुचित होने के कारण संगीत अन्य विषयों की अपेक्षा उपेक्षित रहता है।

उच्च शिक्षण संस्थानों तथा इण्टरमीडिएट में संगीत है भी तो कही-कहीं इन कोर्सों को चलाया जाता है जबकि भारत वर्ष में कई ऐसे विश्वविद्यालय जिसमें संगीत है और प्रत्येक वर्ष हजारो की संख्या में विद्यार्थी बैचलर डिग्री, मास्टर डिग्री तथा पीएच. डी. की डिग्रियाँ प्राप्त करते है लेकिन लगभग उन सभी विद्यार्थी को रोजगार नही मिलती कारण यह है कि संगीत की बहुत कम रिक्तियाँ निकलती है और वे सब विद्यार्थी छोटे-मोटे कार्यक्रम करके किसी तरह अपनी और परिवार वालों का गुजारा करते है।

उपाय एवं सुझाव :

1. प्राथमिक स्तर पर संगीत शिक्षण : प्रदेश के हर प्राइमरी एवं माध्यमिक विद्यालयों में संगीत शिक्षा का प्रबन्ध हो, संगीत शिक्षकों की नियुक्ति हो,

2. विश्वविद्यालय स्तर पर शास्त्र तथा प्रायोगिक शिक्षा की व्यवस्था ऐसी हो, कि प्रयोग पक्ष की शिक्षा संगीत संस्थानों में गुरूकुल पद्धति से दी जाए, जो विश्वविद्यालय शिक्षण का ही अंग होंगे। कुछ ऐसी ही शिक्षण व्यवस्था की परम्परा का आरम्भ पं. ओंकारनाथ ठाकुर ने करना चाहा था, किन्तु वह व्यवस्था आगे न बढ़ सकी। आज उसी व्यवस्था को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता हैं।

3. संगीत शिक्षण का कार्यक्रम ऐसा हो, कि यह शिक्षा केवल क्रिया परक विद्या के रूप में ही नहीं बल्कि एक व्यवसायिक विद्या के रूप में उपयोगी हो सके।

4. गुरूओं का चयन करते समय भी उनके शास्त्र एवं क्रियात्मक पक्ष की सुबलता देखकर उन्हें उसी के अनुरूप शिक्षण कार्य दिया जाना चाहिए।

5. शिक्षण कार्य के साथ-साथ छात्र-छात्राओं के समकक्ष सेमिनार एवं कार्यशालाओं का आयोजन कर उनकी व्यक्तिगत प्रतिभा को मुखर बनाया जा सकता है। साथ ही शिक्षक विद्यार्थियों के कार्यक्रम भी समय-समय पर आयोजित होना चाहिए।

6. विश्वविद्यालयों व महाविद्यालयों में संगीत शिक्षकों की सफलता का मूल्यांकन उनके शिक्षण कार्यो से हो।

मेरा विचार यह है कि प्राथमिक विद्यालयों जू0 हाईस्कूल, हाईस्कूल, इण्टरमीडिएट एवं उच्च शिक्षण संस्थानों में संगीत को एक विषय के रूप में मान्यता प्राप्त की जाए। ताकि बच्चों के अन्दर संगीत के द्वारा संस्कार, आत्मचिन्तन, ध्यान मुद्रा तथा मानसिक सन्तुलन को बनाया जा सके। हालांकि वर्तमान समय में संगीत को मनोरंजन का साधन माना गया है। इसलिए बच्चों के अन्दर थकान व मानसिक संन्तुलन ठीक नहीं है, तो संगीत का अध्ययन करने के पश्चात् उसको काफी आरामदायक महसूस होगा और एक तरह से उस विद्यार्थी का ध्यान भी केन्द्रित होगा तो वह किसी के कही गयी सूक्ष्म बातों को आसानी से ग्रहण करने की क्षमता रखेगा।

इसलिए अगर प्राथमिक एवं उच्च शिक्षण संस्थानो में संगीत को एक विषय के रूप में रखा जाय तो एक तरह विद्यार्थियों के मानसिक संतुलन व ध्यान लगाने की प्रवृत्ति भी बढ़ जायेगी और डिग्री प्राप्त विद्यार्थी को रोजगार के अवसर भी प्राप्त होंगे।

संदर्भ सूची

1. सिंह डा. जोगिन्द्र 'बाबरा'-भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास।
2. जौहरी डॉ. रेनू -भारतीय सांगीतिक जगत में वाराणसी का योगदान।
3. शर्मा प्रो. स्वतंत्र -सौंदर्य, रस एवं संगीत।
4. अमर उजाला समाचार पत्र-2 अक्टूबर 2011

संगीत में लय-ताल का महत्त्व

आनन्द कुमार मिश्र

संगीत जीवन के ताने बाने का वह धागा है जिसके बिना सत् और चित्त का अंश होकर भी आनंद रहित होता है तथा नीरस प्रतीत होता है। यह न तो सामाजिक शिक्षण अथवा व्यसन पूर्ति की वस्तु है और न तो कठिन परिश्रम के परिहार्य साधारण सा मनोरंजन मात्र है। संगीत ईश्वरीय वाणी है। अतः वह ब्रह्म रूप है। शास्त्रों से ज्ञात होता है कि ब्रह्म एक अखण्ड व अद्वैत होते हुए भी परंब्रह्म और शब्द ब्रह्म इन दो रूपों में कल्पित होता है। शब्द ब्रह्म को भलीभाँति जान लेने पर ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

सृष्टि का समस्त अन्तर, बाह्य व्यापार गति के शाश्वत नियमों से बँधा है। इसलिए जब हम संगीत अथवा अन्य किसी भी विद्या में गति के उस शाश्वत विधान की प्रतिष्ठा करते है तो पाते है कि हम स्वभावतः सन्तोष और शान्ति पूर्णता की भावना से ओत-प्रोत हो जाते है। किसी भी कलाकृति के सम्बन्ध में यह अनुभूति की उसमें से कुछ न कुछ निकाला जा सकता है और न ही उसमें कुछ जोड़ा जा सकता है यही उसकी श्रेष्ठता का परिचायक है।

संगीत प्रकृति से प्राप्त है। प्रकृति वह है जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति, विकास, लय आदि का अध्ययन किया जाता है। इसमें भौतिक जगत के भिन्न-भिन्न अंगों, क्षेत्रों, रूपों आदि का विचार एवं विवेचन भी होता है तथा लौकिक व्यवहार में इसका जीव-जन्तु, वृक्षों इत्यादि बातों के लिए अध्ययन होता है। सूर्योदय-सूर्यास्त चिड़ियों का चहकना, झरनों का बहना, वर्षा ऋतु में काली घटा छाना, मोर का नाचना, जंगल में पशु पक्षियों का स्वछन्द विचरण करना इत्यादि प्रकृति के रूप में माने गये है और इसी प्रकृति से संगीत की उत्पत्ति मानी गई है। जिस प्रकार संगीत प्राप्त है उसी प्रकार मनुष्य का शरीर भी प्रकृति के पाँच तत्व से बना है। (अग्नि, हवा, पानी, आकाश, पृथ्वी)।

संगीत का दूसरा तत्व है स्वर समूह अथवा धुन विशेष, जिसमें प्रकृति का व्यापक स्वरूप परिलक्षित होता है। वृक्षों में पत्तो के सूख जाने पर हरे पत्ते लहलहा उठते है। पर्वत पर हिमपात होता है और ग्रीष्म में जल बनकर बह जाता है। समुद्र का भाप मेघ बनकर धरती को सिंचता है। फिर नदी के रूप में बहते हुए समुद्र में पुनः जा मिलता है। उक्त सभी वस्तुओं में हम जिस प्रकार का एक उतार - चढ़ाव देखते है उसी प्रकार संगीत में आरोहण व अवरोहण के रूप में यह क्रम सदा विद्यमान रहता है। जो विशेष आनन्द व नवीनता का हेतु है। संगीत में जादू जैसा असर है। इस वाक्य को चाहे जिस व्यक्ति के सम्मुख कह दीजिए वह सकारात्मक उत्तर ही देगा नकारात्मक कभी नहीं। यद्यपि वह इस अनुभूति से अपरिचित ही क्यों न हो। वह आत्मा की इस सत्यता को स्वीकार कर लेता है। उसकी यह स्वीकृति संगीत व आत्मा के सम्बन्ध की पुष्टि करता है। आत्मा सत्य का स्वरूप है। संगीत की मधुर ध्वनियों या स्वरों का विशिष्ट नियमों के अनुसार लय में होने वाला प्रस्फुटन है इसलिए इसका प्रभाव प्रकृति व मनुष्य पर समान रूप से पड़ता है।

शोध छात्र, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

मनुष्य पर संगीत का असर शारीरिक व मानसिक रूप से पड़ता है। जीवन पथ के किसी मोड़ पर रूक कर देख लिजिए वहीं आपको संगीत मिलेगा दुख से, सुख से, रूदन से ह्रास से? योग से, वियोग से, मृत्यु से, जीवन से, सारांश यह है कि जीवन के प्रत्येक अवस्था से येन-केन प्रकारेण संगीत की कड़ी अवश्य जुड़ी है। युद्ध के मोर्चो पर, उत्साह वृद्धि के लिए, वर्तमान युग में विश्व के प्रत्येक राष्ट्र सैनिक विभिन्न प्रकार के संगीत का प्रयोग करते है। अट्टहास करती हुई मृत्यु के उस वीभत्स वातावरण में सैनिकों के मस्तिष्क का सन्तुलन ठीक रखने एवं गगनभेदी तोपों के भयावह गर्जन में कर्तव्य की कसौटी पर खरे उतरने की शक्ति प्रदान करता है। विभिन्न देशों में संगीत के प्रकार चाहे भिन्न-भिन्न है। किन्तु प्रभाव व गुणों का रूपान्तर नहीं होता। संगीत का मौलिक रूप उसके सृजनात्मक तत्व सभी स्थानों के संगीत में समान होते है। संगीत के परमाणुओं में मानव की वृत्तियों को प्रशस्त करने के साथ-साथ आत्मिक शक्ति का आविर्भाव करने की शक्ति निहित है। इसे चारित्रिक उत्थान एवं वासनाओं पर विजय प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन माना गया है। इससे ललित कला की गहराई नापी नहीं जा सकती है। इसकी गहराईयों में ज्यों-ज्यों उतरते जायेंगे त्यों-त्यों आपका पथ प्रशस्त एवं परिमार्जित होता जायेगा। परन्तु इसमें सिद्धि प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या करनी होगी। एक योगी के समान स्थिर हृदय से संगीत के विशाल कक्ष में प्रविष्ट होना पड़ेगा। तभी आप यथार्थ शब्दों में महान बन सकेंगे।

लय का ताल से सम्बन्ध- संसार में लय ताल की श्रेष्ठता व्यापक है। प्रत्येक क्षेत्र में इसकी महत्ता दिखाई देती है। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी और नक्षत्रदि सभी एक नियमित गति के अनुसार चलते हैं। इसी प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भी अपने दिनचर्या में किसी न किसी रूप में काल के परिणाम अथवा प्रतिबन्ध को मानकर चलते हैं। मानव सभ्यता की वृद्धि के लिए एवं रक्षा के लिए समाज में सोच विचार करके अनेक प्रतिबन्ध लगा रखे है। जिससे की उन्नति व विकास का मार्ग सरल हो जाये। जिस प्रकार किसी राग को कुछ निश्चित समय पर गाया जाता है। (इसी प्रकार ताल में भी कुछ प्रतिबन्ध है)

ताल की सहायता के बिना संगीत शोभायमान नहीं होता है। ताल प्रमाण में बद्ध होकर संगीत श्रवणप्रिय हो जाता है। स्वर अलंकार रूपी पुष्पों को, ताल रूपी धागे में बाँधकर या पिरोकर अपने श्रोताओं के लिए संगीत रूपी हार तैयार करते है। ताल के बन्धन के अभाव में स्वर अलंकार आदि केवल बिखरे हुए पुष्पों के समान होंगे।

'श्रुतिः माता लय पिता' इसके अनुसार श्रुति माता है लय पिता है। इस माता-पिता का आश्रय लेकर ही संगीतज्ञ संगीत क्षेत्र में निर्बाध विचरण करता है। वह अपनी अभिव्यक्ति स्वर, लय, तथा ताल द्वारा उसके विभिन्न प्रयोगों द्वारा व्यक्त करता है। केवल लय से सुविधा अवश्य होती है। किन्तु इस लय को तालबद्ध करने से और ताल को विभागों तथा ताली, खाली से विभाजित करने पर गायक को और भी अधिक सुविधा मिल जाती है।

लय वास्तव में संगीत का प्राण है। इसकी गति को निश्चित करके संगीतज्ञ अपनी स्वर-विस्तार की इमारत खड़ा करता है। वाद्य वादन में एवं नृत्य में लय एवं ताल का बड़ा महत्व है। सितार आदि में तोड़े व झालों के परन व बोल भाव आदि का गहरा सम्बन्ध है। शास्त्रीय संगीत के अतिरिक्त अन्य प्रकारों उदाहरणार्थ लोक संगीत, भजन व कीर्तन आदि में भी लय व ताल का बड़ा सम्बन्ध है।

भारतीय संगीत में ताल-परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। ताल लय को दर्शाने की क्रिया है। लय एक नैसर्गिक प्रक्रिया है। जिसका विस्तार समस्त प्रकृति में पाया जाता है। स्वयं मानव का जीवन श्वाँस प्रश्वाँस की प्रक्रिया पर निर्भर है। उसमें यह लय स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उसकी लय जरा सी बिगड़ जाने पर मनुष्य का जीवन खतरे में पड़ सकता है। हृदय की गति और नाड़ी का चलन इस लय तत्व का उत्कृष्ट उदाहरण है। जिस नियमित गति से हृदय का स्पन्दन होता रहता है। या नाड़ी के ठेके पड़ते हैं, वहीं नियमित गति का मुख्य लक्षण है।

लय के जन्म के साथ ही उसको दर्शाने के लिए किसी क्रिया की आवश्यकता पड़ी और ताल का जन्म हुआ। ताल शब्द तल से निकला है। यह क्रिया सशब्द व निःशब्द रहती थी। सशब्द क्रिया में ताल जैसे हाथ पर आघात करने की क्रिया थी और निःशब्द में हाथ खाली फेंकने जैसी क्रिया थी। सामवेद के संगीत में हाथ की उंगलियों पर स्वरों के अन्तराल दर्शाये जाते थे। रामायण तथा महाभारत में ऐसे लोगों का उल्लेख मिलता है जो ताल दर्शाने तथा मात्र गिनने के लिए नियुक्त होते थे। इन क्रियाओं के कारण गीत तथा गत की प्रत्येक मात्रा की गणना हो सकती थी और इसके माध्यम से गीतों की बन्दिश भी सुरक्षित रह सकती है।

वास्तव में लय और स्वर संगीत के दो आधार स्तम्भ है। लय समस्त भौतिक पदार्थों तथा प्राणियों में विद्यमान है। संगीत और लय का सम्बन्ध आदि काल से चला आ रहा है। अवनद्ध वाद्यों के प्रयोग का उल्लेख वैदिक काल में भी मिलता है। उस काल में लय दिखाने के लिए भू-दुन्दुभी प्रयोग की जाती थी। जिसमें जमीन में एक गड्ढ़ा खोदकर उसे चमड़े से मढ़कर प्रयोग में लाते थे। उपनिषद, रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख आया है।

स्वर संगीत का आधार अवश्य है किन्तु जिस समय किसी राग का विस्तार किया जाता है। उस समय आलाप, तान, बोलतान सरगम आदि विभिन्न लयों में किये जाते हैं।

संगीत का मुख्य उद्देश्य आनन्द की सृष्टि करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति में ताल बड़ा सहायक होता है। जो गीत लय प्रधान होते हैं वो जनता को सरलता से प्रभावित कर लेते है। इसलिए साधारण जनता लोक गीत आदि के साथ ताली देने लगती हैं।

प्रकृति व मनुष्य के लय में महान अन्तर है क्योंकि इसके प्रारम्भ का न तो पता है और न ही अन्त का। इनकी गति हमेशा एक सी रहती है। मनुष्य द्वारा निर्मित गति आवश्यकतानुसार घटाई बढ़ाई जाती है। इसलिए लय के तीन प्रकार माने गए हैं- विलम्बित, मध्य, द्रुत। मनुष्य द्वारा निर्मित लय की विशेषता है कि वह लय को आधार मानकर विभिन्न लयकारियों से खेलता है और वह कुशलतापूर्वक मुखड़े से आ मिलता है वह उतना ही लयकार समझा जाता है। लय से मात्रा और मात्रा से ताल बने। लय को मात्रा व तालबद्ध करने से और ताल को विभाग, ताली-खाली आदि में विभाजित करने से सुविधा और आनन्द दोनों की वृद्धि होती है। प्रत्येक ताल के कुछ निश्चित बोल, ताली-खाली तथा मात्राएं होती हैं। इन उपकरणों की सहायता से गायक को सरलता से मालूम हो जाता है कि गाते समय वह किस मात्रा पर है। जिससे उसे अपने मन से रचना करने में सहायता मिलती है। ताल हमारे भारतीय संगीत की निजी विशेषता है। गीत के जितने प्रकार है, ताल के भी लगभग उतने ही प्रकार हैं। ख्याल के लिए तीनताल, झपताल, एकताल, झूमरा आदि, ध्रुपद के लिए चारताल, शूलताल, तेवरा आदि और ठुमरी के लिए दीपचन्दी, जत आदि तालों की रचना है। इन सभी तालों का मुख्य उद्देश्य गायन-वादन तथा नृत्य के साथ संगति किया जाना और आनन्द की वृद्धि करना है। इसलिए किसी भी कार्यक्रम मे ताल देने के लिए किसी वाद्य का प्रयोग अवश्य होता है। शास्त्रीय संगीत व लोकगीत, भजन गीत, फिल्मी संगीत आदि सभी में लयताल दिखाने के लिए किसी न किसी अवनद्ध वाद्य का प्रयोग होता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार भाषा के लिए व्याकरण, कविता के लिए छन्द जितना महत्वपूर्ण है, उसी प्रकार संगीत के लिए लय एवं ताल उतना ही महत्वपूर्ण है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची-

1. परांजपे डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास
2. जोशी उमेश, भारतीय संगीत का इतिहास
3. चौधरी डॉ. सुभद्रा, भारतीय संगीत में ताल और रूप विधान
4. गर्ग डॉ. लक्ष्मी नारायण, निबंध संगीत
5. द्विवेदी डॉ. रमाकान्त, संगीत स्वरित

संगीत और काव्य अन्तःसम्बन्ध

चन्दन विश्वकर्मा

अनादिकाल से संघर्षरत मनुष्य नवीन शक्ति संचय के लिए विश्राम के क्षणों में ऐसे रंजक साधनों की अपेक्षा रखता था जिनके द्वारा वह तन्मय होकर स्वयं को भूलकर आनन्दित हो सके। मानव ने आनन्द प्राप्ति के जितने साधनों का आविष्कार किया उन सभी में संगीत और काव्य कला सर्वश्रेष्ठ है। संगीत और काव्य का सम्बन्ध अविछिन्न है। संगीतज्ञ अपने मनोभावों को स्वर-लय के माध्यम से व्यक्त करता है। कलाकार अपने मनोभावों को स्वर-लय के माध्यम से व्यक्त करता है और साहित्यकार अपने मनोगत भावों तथा जीवन की अनुभूतियों को शब्दार्थ के माध्यम से। संगीत साहित्य के अर्थ को व्यक्त करने में सहायक है और साहित्य संगीत के रूप को व्यक्त करने में सहायक। दोनों कलाएं मानव जीवन की सुखानुभूति के लिए अपरिहार्य है। कहा भी गया है-''साहित्य संगीत कला विहीनः, साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।''

''संगीताचार्य विश्वंभरनाथ के मतानुसार-''काव्य और संगीत परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। काव्य को शब्दों में संगीत और संगीत को स्वरों में काव्य कहा जा सकता है। यह ललित कलाओं का पारस्परिक आदान-प्रदान है। ''काव्य-मीमांसा'' के अष्टम अध्याय में काव्य-रचना के बारह स्रोतों में से प्रकीर्णक के अन्तर्गत संगीत भी काव्य-कला में सहायक एक महत्वपूर्ण स्रोत है। संगीत और काव्य इन दोनों का आधार नाद तत्व है। जिनकी महिमा अद्वितीय है। बृहद्देशी में लिखा है-

''नादरूपः स्मृतोब्रह्मा नादरूपो जनार्दनः।
नादरूपा पराशक्तिः नादरूपो महेश्वरः।।''

विश्व के आनन्दमय तत्व अर्थात् नाद का साकार रूप संगीत व साहित्य है। पंच महाभूतों में से प्रथम और सबसे आकाश का गुण होने के कारण 'शब्द' सर्वत्र व्याप्त है। शब्द ही वाक् तत्व है और भारतीय विचारधारा में इसके दो रूप माने गए हैं-नादात्मिका वाक्, वर्णात्मिक वाक्। इन्हीं दोनों से क्रमशः संगीत और काव्य की उत्पत्ति होती है। इसलिए संगीत में स्वर और काव्य में पद की प्रधानता होती है।

भारतीय चिन्तकों ने काव्य और संगीत को परस्पर पूरक, सहोदरा और अन्योन्याश्रित माना है। प्रो. विश्वनाथ प्रसाद के अनुसार-''संगीत अर्थबोध के लिए काव्य का सहारा लेता है और काव्य प्रभाववुद्धि के लिए संगीत का।'' डॉ. रामानन्द तिवारी के शब्दों में-''संस्कृति और कला साम्य की भांति कलाओं के अन्तर्गत संगीत और काव्य में अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का कारण शब्द के माध्यम की समानता है। इस समानता की दृष्टि से ये दोनों कलाएं सहोदरा है। सुमित्रानन्द पंत जी ने कविता को प्राणों का संगीत माना है तथा काव्य और संगीत की मैत्री पर बल देते हुए लिखा है-''भाव गीति की स्वर लय मैत्री-सी। षड्ऋतुएं नित संगति में आती।।

पं. ओंकारनाथ ठाकुर जी ने संगीत व काव्य के सम्बन्ध को अविभेद्य माना है। जिस प्रकार अकारादि

शोध छात्र, वाद्य संगीत विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

व्यंजनों के साथ 'अ' आदि स्वर का सम्बन्ध, शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध है उसी प्रकार काव्य और संगीत का सम्बन्ध है। ये माँ सरस्वती के दो स्तनों की भांति हैं, जिनका दुग्धपान कर कवि, कवि और संगीतकार संगीतकार बना है। डॉ. शरतचन्द्र परांजपे का विचार है कि संगीत नाद प्रधान साहित्य है और साहित्य शब्द प्रधान संगीत है।''

काव्य और संगीत का सम्बन्ध शाश्वत है-आध्यात्मवाद की दृष्टि से भी और विकासवाद की दृष्टि से भी। उपनिषदों में कवि और गायक को एक ही अर्थ में लिया गया है। भारतीय परम्परानुसार, नटराज शंकर स्वरों के आदिस्रोत हैं। डमरु के शब्दों से ही साहित्य के 'अक्षरों' और संगीत के 'स्वरों' की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार काव्य और संगीत का उन्मेष एक साथ हुआ। विकासवाद की दृष्टि से प्रायः सभी विधाओं, कलाओं, सिद्धान्तों, शास्त्रों आदि का विकास शनैः-शनैः हुआ है। प्रारम्भिक काल में किसी शब्दोच्चारण के लिए नाद या स्वर की एवं किसी स्वरोच्चारण के लिए शब्द की आवश्यकता पड़ी ही होगी। इसलिए हम कह सकते हैं कि स्वरविहीन शब्दोच्चारण और शब्दविहीन स्वरोच्चारण असम्भव है। इनका सम्बन्ध शाश्वत है। यही स्वर और शब्द विकसित होकर क्रमशः संगीतशास्त्र और साहित्य शास्त्र के रूप में प्रचलित हुए।

संगीत और काव्य दोनों का आधार ध्वनि अथवा शब्द है। यदि काव्य-पाठ एक ही ध्वनि में, एक-सी लय में किया जाए तो वह काव्य-पाठ हास्यस्पद हो जाएगा इसके विपरीत उन सार्थक शब्दों का विभिन्न स्वर-लय योजना के साथ प्रयोग किया जाए तो विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति सहजता से ही हो जाएगी। उदाहरणार्थ-''करो ना मोसे रार साँवरिया'' इस वाक्य में एक सम्बोधन, एक क्रिया और उसका निषेध है। गद्य में भी इसी बात को कह सकते हैं। सामान्य रूप से कहने पर अर्थबोध तो होगा लेकिन भाव-बोध नहीं। उसके अर्थ में नवीनता, उत्कटता लाने में संगीत ही समर्थ है। मंगलदास अग्रवाल जी ने कहा है कि ''कवि की कल्पना और भावनाओं से उत्पन्न कविता जब स्वर और ताल में आबद्ध हो संगीत का स्वरूप प्राप्त कर लेती है तो उसका आनन्द द्विगुणित हो जाता है।'' काव्य की विशिष्टता उसके अन्तर में निहित स्वर है और स्वर का अलंकार शब्द है।

संगीत और काव्य दोनों ही लय पर आश्रित हैं। लय, शब्द के साथ संयुक्त होकर छन्द बन जाती है। छन्दों में आबद्ध काव्य ही संगीत की आधारभूमि है। अधिकांशतः काव्य साहित्य छन्दोबद्ध है। संगीतशास्त्र में भी छन्द का अटूट सम्बन्ध है। संगीत की लय, मात्रा और ताल का विधान छन्दों में सम्पूर्ण रूप से व्याप्त रहता है। संगीत के लय की गणना का आधार मात्रा है और मात्राओं द्वारा ही छन्द की गति का भी बोध होता है। यद्यपि मुक्त छन्द की कविताओं में छन्द के नियमों की शिथिलता होने पर भी उनमें एक प्रवाह, एक गति होती है और यह गति संगीत की लय ही होती है। क्षेमेन्द्र ने कवि के लिए छन्द योजना को, रस और वर्णनीय विषय के अनुकूल रखना उचित ठहराया है-

काव्ये रसानुसारण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोग विभागवित्।।

जैसे श्रृंगार या करुण रस में कोमल-कान्त पदावली तथा मालिनी जैसे-छन्द तथा वीर रस में कर्णकटु-वर्ण एवं शार्दूलविक्रीडित जैसे- छन्द अधिक उचित प्रतीत होते हैं।

काव्य और संगीत दोनों की आत्मा रस है। रस ही रंजन का कारण है। काव्य के अन्तर्गत नौ रसों का विधान है जो कि संगीत में केवल चार रसों (श्रृंगार, वीर, करुण और शान्त) में ही समाविष्ट कर लिया गया है। काव्य में शब्दावली के माध्यम से रस की उत्पत्ति की जाती है जिसे स्वरों की सहायता से चरमोत्कर्ष की दिशा में लाया जाता है। काव्य के पदों को स्वर बद्ध करने से पूर्व उससे उत्पन्न होने वाले रस पर विचार करना आवश्यक होता है। उसी प्रकार संगीत में गाए जाने वाले भिन्न-भिन्न रागों से विभिन्न प्रकार के उत्पन्न होने वाले रसों पर भी विचार करना आवश्यक है। जब राग से उत्पन्न होने वाले रस के अनुरूप गेय पद का प्रयोग होता है तो

राग और अधिक रंजकता को प्राप्त कर लेता है। अतः रस-विशेष के लिए शब्दों का चयन काव्य-ज्ञान के बिना असम्भव है।

संगीत के मुख्य तीन अंग हैं- गायन, वादन और नृत्य। इसमें गायन कला प्रमुख मानी जाती है। गायन के लिए हमें गेय पदों की आवश्यकता पड़ती है। यही गेय-पद साहित्य हैं। जिस प्रकार संगीत, काव्य के लिए अपरिहार्य है, उसी प्रकार "संगीत में भी आधार रूप में पद का प्रयोग ग्राह्य माना गया है।"

भरत मुनि ने कहा है-

गान्धर्व यन्मया प्रोक्तं स्वरतालपदात्मकम्।
पदं तस्य भवेद् वस्तु स्वरतालानुभावकम्।।

बिम्ब-विधान की दृष्टि से भी काव्य और संगीत में समानता है। जैसे-कवि अपनी रचनाओं द्वारा समाज के बिम्ब उपस्थित करता है वैसे ही संगीतकार भी राग निबद्ध बंदिशों द्वारा समाज की मनोवृत्ति आदि का बिम्ब प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार कल्पना मानसिक सृष्टि है। कल्पना तत्व के ही साहचर्य से काव्य और संगीत में नवीनता, विलक्षणता, सूक्ष्मता, चमत्कारिकता आदि का समावेश होता है। कवि और संगीतकार अपनी उत्कृष्ट कला-सृष्टि के लिए वर्ण विषय तथा रागादि के स्वरूप की कल्पना करता है। बुद्धितत्व भी दोनों कलाओं के विकास में सहयोगी है। यह तत्व काव्य में उचित शब्द तथा छन्दादि का प्रयोग करने का मार्ग प्रशस्त करता है और संगीत में काल-स्वरादि के उचित प्रयोग का बोध कराता है।

संगीत के आधार जहाँ नाद स्वर, ग्राम, सप्तक, मूर्च्छना, लय, ताल आदि सांगीतिक तत्व होते हैं, वहीं काव्य के माध्यम भावादि, काव्य तत्व, भाषा, अलंकार, शब्द शक्ति, छन्द आदि होते हैं। संगीत में विशेष राग की अभिव्यक्ति, सप्तस्वर, श्रुति, मूर्च्छना, विशिष्ट स्वर (कोमल, तीव्र) तथा विशिष्ट आरोहावरोहण से होती है किन्तु काव्य में विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति, विशिष्ट अलंकार, शब्द शक्ति तथा विशिष्ट छन्दों के सामंजस्य से होती है।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि संगीत के बिना काव्य प्रभावशाली तो रहता है किन्तु उसमें जन-मानस को आन्दोलित कर उत्साहित करने की पूर्ण शक्ति का अभाव रहता है। इसी प्रकार शब्दरहित स्वर संगीत कल्पना-लोक के स्वप्निल आनन्द की सृष्टि तो करता है, परन्तु उसमें हृदय के भावों को साकार करने, सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाने की न्यूनता परिलक्षित होती है। काव्य और संगीत का समन्वित और सन्तुलित रूप ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इसीलिए गायक की अपेक्षा होती है एक सिद्ध कवीश्वर की जिसकी रचना का आश्रय लेकर वह अपने स्वरों का संकोच, विस्तार, आरोहण-अवरोहण कर सके, अपनी गमक, मीड़ और मुरकियों को प्रभावित प्रदान कर सके तथा अपने स्वाभाविक सरल संगीत को कुछ घनीभूत कर सके और कवि की अपेक्षा होती है एक ऐसे सफल गायक की, जो उसके एक-एक शब्द की आत्मा को झंकृत करके सहृदय-संवेद्य बना सके।"

पद्य के संदर्भ में :

1. भाषिक काव्य का कोई अर्थ होता है।
2. काव्य में भावना महत्त्वपूर्ण होती है।
3. भाषिक काव्य में शब्द चमत्कृति होती है और शब्दालंकारों का उपयोग प्रभावपूर्ण ढंग से किया जाता है।
4. काव्य में बौद्धिक शक्ति एवं कल्पना-शक्ति होती है।
5. काव्य के विचार लयबद्ध रचना के माध्यम से व्यक्त होते हैं।

तबले के संदर्भ में :

1. तबले के रचना-काव्य का कोई भाषिक अर्थ नहीं होता है।
2. मानवी भावना व्यक्त करना तबले के काव्य का हेतु नहीं है। किन्तु उचित नाद, ध्वनि, जोरदारपन, नजाकत, गति की विविधता आदि के माध्यम से तबला गीत की रसभाव-निर्मिति में सहायता पहुँचाता है।
3. तबले में शब्द चमत्कृति महत्त्वपूर्ण अंग है। तबले के काव्य में प्रास, अनुप्रास, अन्त्यानुप्रास

आदि शब्दालंकारों के साथ यति का सातत्य के साथ उपयोग होता है।

4. तबले में बौद्धिक शक्ति और कल्पना शक्ति विद्यमान होती है।
5. तबले की रचनाओं के विचार लयबद्धता के माध्यम से व्यक्त होता है।

संगीतमय कविता और काव्यात्मक संगीत ही पूर्णरूपेण में कविता या संगीत कहे जाने के अधिकारी हैं। "काव्य के अन्तःकरण में जब संगीत स्पंदन करने लगता है तब काव्य में सजीवता आ जाती है। संगीत एक अमूर्त कला है और भावपूर्ण शब्द-योजना इसे मूर्तता प्रदान कर अपनी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ उसे साकार कर देती है। संगीतज्ञ साहित्य में और साहित्यकार संगीत में पारंगत हो, यह सम्भव नहीं है तथापि किसी एक के अध्ययन हेतु दूसरे के मर्मों को समझना तो आवश्यक है। संगीत और काव्य में यह पारस्परिक आदान-प्रदान अनिवार्य है। इसलिए ये दोनों ही ललित कलाएं एक-दूसरे के पूरक है। अतः जहाँ एक की प्रतिष्ठा होती है, वहाँ दूसरा स्वयं ही प्रतिष्ठित हो जाता है।

संदर्भ

1. चौधरी, डा. सुभद्रा, भारतीय संगीत में ताल और रूप विधान।
2. चौधरी, सुभद्रा, संगीत-संचयन, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, प्रथम संस्करण-1989 ई.
3. मुसलगाँवकर, विमला, संगीतोपयोगी संस्कृत (प्रथम भाग), मछोदरी, वाराणसी, अगस्त-1973 ई.।
4. कुमार, डा. अरविन्द, भारतीय सांगीतिक जगत को तुलसीदास का योगदान, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005 ई.
5. पाण्डेय, डा. अर्चना, भारतीय संगीत और कवि घनानन्द, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006 ई.
6. वर्मा, डा. सीमा, सृजनकला के रूप में संगीत की असाधारणता एवं विभिन्न विषयों के साथ अन्तःसम्बन्ध "संगीत एक असाधारण सृजनकला" 24-25 फरवरी 2006 ई., राष्ट्रीय संगीत-संगोष्ठी।
7. मईणकर, पं. सुधीर, तबला-वादन : कला एवं शास्त्र, अ.भा. गांधर्व महाविद्यालय मण्डल, मिरज़ संस्करण-2000 ई.

संगीत के समाजशास्त्र का अवलोकन

अनामिका प्रकाश

प्रत्येक ज्ञान का उदय एवं विकास प्रारंभ में सामान्य ज्ञान के रूप में होता है, लेकिन अध्ययन की गहनता एवं विभिन्न खोजों के फलस्वरूप उसकी अनेक शाखाएँ पृथक ज्ञान के रूप में विकसित होती है। संगीत के क्षेत्र में भी ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ तथा उनका पृथक अध्ययन-क्षेत्र विकसित हो गया। जैसे- संगीत का मनोविज्ञान, संगीत का दर्शन, संगीत का सौन्दर्यशास्त्र, संगीत का ऐतिहासिक अध्ययन आदि। संगीत का समाज से परस्पर घनिष्ठ संबंध है।

दूसरी तरफ, समाजशास्त्र के अध्ययनों से ज्ञात होता है कि समाजशास्त्र के अंतर्गत कला के समाजशास्त्र के विकास के प्रयास बहुत कम हुआ है। 1956 ई. में घुर्जटी प्रसाद मुखर्जी ने कहा था "कला के समाजशास्त्र का क्षेत्र अभी अंधकारमय है।" आज भी स्थिति बहुत बदली नहीं है। आज के जमाने में संगीत की दुनिया केवल कला और सौंदर्य की साधना के सहारे नहीं चलती है। वह समाज के आर्थिक ढ़ाँचे, राजनीतिक परिवेश, सामाजिक संरचना और संस्कृति से बहुत दूर तक प्रभावित होती है। जब से संगीत की दुनिया में कलाकारों और श्रोताओं के बीच संगीत बाजार आ गया है और संस्कृति का क्षेत्र "प्रतीकात्मक वस्तुओं का बाजार" बन गया है तबसे समाज में कला और संगीत की स्थिति बदल गई है। इस स्थिति में संगीत के सामाजिक अस्तित्व से उसकी अस्मिता के संबंध की पहचान करानेवाली दृष्टि का विकास ही "संगीत का समाजशास्त्र" है।

संगीत के समाजशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है समाज से संगीत के संबंध की खोज एवं उसकी व्याख्या। ऊपरी तौर पर समाज से संगीत का संबंध बड़ा सहज और सरल दिखाई देता है। संगीत के समाजशास्त्र के अंतर्गत समाज से संगीत के संबंध का विवेचन करने वाले दो तरीके हैं। प्रथम में समाज को समझने के लिए संगीत का उपयोग करें, और दूसरे में संगीत को समझने के लिए समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाएँ।

संगीत के समाजशास्त्रीय चिन्तन का आरंभ समाज से संगीत के संबंध की खोज के साथ हुआ। संगीत शैलियों तथा रचनाओं से संगीत का विवेचन किया जा सकता है। संगीत की रचनाओं में ही युगीन वास्तविकताओं का गहरा बोध होता है। संगीत के समाजशास्त्रीय अध्ययन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है, कि संगीत से समाज के बारे में मिलने वाले ज्ञान का स्वरूप क्या है? उसमें व्यक्त होने वाली सामाजिक चेतना के रूप में क्या विशिष्टता है और किसी संगीत रचना में या संगीत-शैली में इन सबकी अभिव्यक्ति किन-किन रूपों में होती है?

किसी संगीत-रचना की विषय-वस्तु में ही समाज व्यक्त नहीं होता बल्कि रचना के हर स्तर अर्थात् उसकी अंतर्वस्तु, संरचना और भाषा में भी समाज की अभिव्यक्ति होती है। संगीत में समाज के खोज की एक दिशा यह है कि संगीत रचना का समूचा व्यवहार कल्पना का क्रिया व्यापार है। राग का निर्माण, बंदिश की स्वरमय आकृति, बंदिश का

शोध छात्र, वाद्य यंत्र विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

प्रस्तुतिकरण, राग स्वरूप का गायन द्वारा निर्माण आदि सब कुछ कल्पना की मदद से ही होता है। संगीत की कल्पना के सर्जनात्मक भूमिका के बारे में संगीत समीक्षक हमेशा सजग रहे हैं। संगीत की विभिन्न-शैलियों में या एक ही संगीत विधा के प्रकारों में कल्पना की क्रियाशीलता एक जैसी नहीं होती। सुगम-संगीत और शास्त्रीय-संगीत में अनुभव की अभिव्यक्ति करने में कल्पना की अलग-अलग भूमिकाएँ होती हैं। संगीत कलाकार कल्पना की मदद से ही पहले दूसरों के अनुभव जगत में प्रवेश करता है बाद में संगीत संरचना के माध्यम से संगीत श्रोताओं को अपने अनुभव का सहयोगी बनाता है। संगीत के समाजशास्त्र में संगीत के ज्ञानात्मक पक्ष के विश्लेषण के लिए, कल्पना की इन क्रियाओं की समझदारी आवश्यक है। तभी वास्तविकता के बोध और व्यंजना शक्ति के रूप में कल्पना की क्रियाशीलता प्रकट होगी और साथ ही कल्पना की स्वतंत्रता का महत्व भी उजागर होगा।

रिचर्ड होगार्ड मानते हैं कि समाज के बारे में एक महत्वपूर्ण रचनाकार और समाजशास्त्रीय की अंतर्दृष्टियों में बहुत दूर तक समानता होती है, दोनों समाज के सार्थक तथ्यों एवं ब्यौरों का चुनाव करते हैं और उनमें व्यवस्था पैदा करते हैं। इस प्रक्रिया में रचनाकार समाज की एक तस्वीर बनाता है और समाजशास्त्रीय एक सिद्धांत। उन दोनों के माध्यम से हमें समाज का ज्ञान प्राप्त होता है।

संगीत, समाज और जीवन के बारे में नई दृष्टि देता है। यह संगीत की एक भूमिका है। भूमिका और भी हैं। अगर समाज में संगीत की कोई महत्ता न हो तो उसकी समाज को जरूरत भी नहीं होगी। कलाकारों की सामाजिक स्थिति का विश्लेषण 20वीं शताब्दी में विकसित हुआ। पूँजीवादी समाज में कलाकारों की जटिल त्रासद स्थिति थी। गण समाज में कलाकार समाज का अंग होता था। वहीं कहीं अनाम रहता था तो कहीं लोकनायक भी बनता था। संगीत कलाकार की स्थिति, उसकी जीविका, उसका अस्तित्व सब समाज से प्रभावित होते हैं। संगीत कला, कलाकार और श्रोता के बीच का अंतःसंबंध है जो समाज में संगीत और कलाकार की वास्तविक स्थिति का बोध कराती है। आज के समाज में संगीत गायन या वादन केवल शौक नहीं बल्कि जीविका का साधन भी है। संगीत समाज के व्यापक सामाजिक ढाँचे से अनेक रूपों से जुड़ा हुआ है। वह सामाजिक प्रक्रिया के आर्थिक, राजनीतिक और विचारात्मक व्यवहारों से प्रभावित होता है और उनको प्रभावित भी करता है।

किसी संगीत कलाकार की कला के प्रचार या प्रसार में विभिन्न सांस्कृतिक संस्थाओं का प्रमुख स्थान है। किसी भी कलााकार की कला को मूल्यवान या मूल्यहीन बनाने में विभिन्न सांस्कृतिक संस्थाओं तथा संगीत-समीक्षकों की भूमिका मुख्य होती है।

संगीत-शैली रचनाकार की चेतना ही नहीं होती, बल्कि वह चेतना पैदा भी करती है अर्थात् संगीत शैली अपने श्रोता पैदा करती है। जैसे जिस समय शास्त्रीय संगीत की विधा के रूप में ठुमरी गाई जा रही थी, उस समय उसके संगीत प्रशंसक दुर्लभ थे। लेकिन आज उसके निंदक मुश्किल से मिलेंगे। ठुमरी शैली ने श्रोताओं की चेतना को बदला है, अपने लिए जगह बनाई है।

संगीत में समाज प्रतिबिम्बित होता है। वास्तव में कोई कला, अपने समाज का प्रतिरूप है जो स्वयं तत्कालिक ऐतिहासिक स्थिति से प्रभावित होता है। संगीत एक ऐसी रचनात्मक प्रक्रिया का परिणाम है, जिसमें वाद्य, नृत्य और गायन की स्थिति में काल और स्थिति के अनुसार व्यक्ति विविध अभिव्यक्तियाँ करता है।

मनुष्य बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक समाज पर आश्रित रहता है। वह जो कुछ सीखता है, अनुभव करता है या प्राप्त करता है उसका आधार समाज ही होता है। मनुष्य को अपनी शक्ति का उपयोग समाज में ही करना है, समाज से जो लिया उसे समाज को ही देना है। कला मनुष्य का कार्य है, एक शक्ति है। मनुष्य का मस्तिष्क और सौन्दर्यानुभूति स्वयं एक परिणाम है और साथ ही दूसरी ओर परिस्थिति का कारण भी है। इसलिए सभी प्रकार के कलात्मक माध्यमों में समाज के पारस्परिक संघर्षों

का प्रतिफलन होता है। परंतु समाज के पारस्परिक संबंध निरंतर विकसित होते रहते हैं, बदलते रहते हैं। परिणामस्वरूप कला के माध्यमों में भी विकास एवं परिवर्तन होता रहता है। जिस प्रकार समाज के परिवर्तित संबंधों का अतीत से सारोकार रहता है, उसी प्रकार कलाओं के विभिन्न माध्यमों का भी एक सामाजिक क्रम चलता रहता है। समाज की परिस्थितियों के अनुसार संगीत बदल जाता है। जैसे वैदिक काल में संगीत का सर्वाधिक रूप से प्रयोग ईश्वरोपासना के लिए किया जाता था, किन्तु बाद में समाज की रूचि के अनुसार यह विलासित एवं मनोरंजन का साधन बन गई। आज संगीत का प्रयोग समाज के कल्याण के लिए, ख्याति अथवा यश के लिए तथा धन अर्जित करने के लिए किया जाता है।

समाज से अलग कला का कोई अस्तित्व नहीं होता। किसी भी जनसमाज की कला उसकी मानसिकता से निर्धारित होती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. श्रीवास्तव डॉ. धर्मावती, प्राचीन भारत में संगीत
2. अग्रवाल डॉ. गोपालकृष्ण, समाजशास्त्र
3. शर्मा सत्यवती, संगीत का समाजशास्त्र

संगीत का आस्वादन

सिंकी कुमारी

"गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।।"
(स0 र. 1, 21, गद्य)

अर्थात् गीत, वाद्य एवं नृत्य, इन तीनों का सामूहिक प्रयोग संगीत कहा जाता है। संगीत की ऐसी अवधारणा सर्वप्रथम तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में संगीत रत्नाकर में आती है। इससे अधिक प्राचीन शब्द गान्धर्व है जो नाट्यशास्त्र एवं वैदिक साहित्य में मिलता है। वैदिक साहित्य में तो चार उपवेदों में से एक उपवेद "गान्धर्ववेद" ही है।

सामान्य रूप से गीत एवं वाद्य प्रयोग के लिए गान्धर्व शब्द आया है। यह 'गान्धर्व' का सामान्य अर्थ है। आज अंग्रेजी अनुवाद प्रायः म्यूजिक कर दिया जाता है जो कि सही नहीं है। अंग्रेजी में संगीत का समानार्थक कोई शब्द नहीं है। आज प्रयुक्त 'संगीत' शब्द 'संगीत-रत्नाकर' के संगीत की अपेक्षा 'गान्धर्व' के अधिक निकट है, क्योंकि दोनों में नृत्य का ग्रहण नहीं होता।

"विशेष अर्थ में ऐसे संगीत को गान्धर्व की संज्ञा दी गई है, जो विशेष रूप से नियमबद्ध हो एवं जिसका प्रयोजन देवता-परितोष हो। नाट्यशास्त्र में 'गान्धर्व' से भिन्न ऐसे संगीत को गान कहा गया है, जो कि विशेष रूप से नियमबद्ध न हो और जिसका प्रयोजन देवता परितोष न होकर नाट्य का विभिन्न परिस्थितियों को पुष्ट करना हो।"[1]

मार्ग एवं देशी शब्द सातवीं शताब्दी के आस-पास प्रचलित हुए एवं मतंगकृत 'बृहद्देशी' में आये। यहां बहुत स्पष्ट रूप से इन शब्दों की व्याख्या नहीं की गई है। परंतु ऐसा लगता है कि जिस गीत में आलाप आदि का विस्तार संभव हो उसे मार्ग कहा गया है। अपनी ओर से ऐसी व्याख्या की जा सकती है जिस संगीत में विशेष नियमों के आधार पर विस्तार किया जाए, उसे मार्ग कहा जाए। क्योंकि सामान्य रूप से विस्तार विशेष नियमों के आधार पर ही किया जाता है। जिस संगीत में विस्तार की गुंजाइश न हो उसे देशी कहा गया है। बृहद्देशी में यह कहा गया है कि जो संगीत समाज के सभी वर्गों द्वारा स्वेच्छा से प्रेमपूर्वक अपने आनन्द के लिए गाया बजाया जाए वह 'देशी संगीत' है।

संगीत! यह ललित कला मानव के मनोरंजन का साधन, महफिल की आनंददायक वस्तुओं का आभूषण, संतों के लिए आत्मानंद की मार्गदर्शक, प्रेमियों के जीवन का मित्र, विरहाग्नि से पीड़ित व्यक्तियों को सांत्वना देनेवाली, एकांतवासियों की मित्र तथा सहायक और अपाहिज एवं आपदाग्रस्त मानवों की सहचरी और प्रेमिका ही नहीं बल्कि इस प्रकार के सैकड़ों गुणों के अतिरिक्त इस कला में और भी अनेक विशेषताएं हैं, जो मानव जीवन में महत्व रखती है। संगीत आराधना है। हमारा प्राचीन संगीत लोक संगीत है, यह संगीत मनुष्यों के अंतर्रात्मा के भावों को बड़ी सरलता से व्यक्त कर देने में सक्षम है। और इसी लोक संगीत के कुछ सामान्य सिद्धांतों का संचयन करके संगीत के शास्त्र का निर्माण होता है।

'संगीत के द्वारा अभिव्यक्ति के स्वरूप पर पाश्चात्य देशों में 'म्यूजिकल एस्थेटिक्स' के अंतर्गत विचार किया गया है। अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है, इस बारे में पाश्चात्य सांगीतिक सौंदर्य शास्त्र में दो विचारधाराएं हैं:-

1. ऑटोनोमी
2. हेटरोनोमी

अनुदेशक, संगीत विभाग, मगध महाविद्यालय, पटना

ऑटोनोमी का सामान्य अर्थ है स्वायत्तता, अर्थात् जो किसी अन्य पर निर्भर न हो, निरपेक्ष हो। इस विचारधारा के अनुसार संगीत अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी बाह्य तत्व पर निर्भर नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति उसके अपने ही द्वारा होती है और आनंदानुभूति भी उसी की होती है, अन्य किसी तत्व की नहीं। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि संगीत के द्वारा किसी भाव, विचार, घटना या परिस्थिति का संबंध नहीं, स्वर-सन्निवेशों का ही आनंद लेता है। किन्तु हेटरोनोमी के प्रतिपादक संगीत को भावों की भाषा समझते हैं, अर्थात् संगीत अपने सौन्दर्य के अतिरिक्त भी और कुछ व्यक्त करता है, जो वास्तव में सांगीतिक नहीं है या संगीत के स्वरूप से भिन्न है। प्रथम सिद्धांत के अनुसार संगीत का सौन्दर्य विषयगत है और दूसरे के अनुसार विषयगत नहीं।[2]

काव्य के द्वारा निश्चित अर्थ के रूप में रंजन होता है जैसे-काव्य पढ़ते समय खतरे से भय, मरण से शोक, अन्याय से क्रोध आदि की अनुभूति होती है। शिल्प अथवा चित्रकला से निश्चित स्वरूप का दर्शन होता है। जैसे-विशेष व्यक्ति की अथवा घोड़े, सिंह आदि की मूर्ति या चित्र देखकर मालूम होता है कि घोड़े का चित्र है अथवा पर्वत, नदी, वृक्ष पशु-पक्षियों सहित दृश्य है। संगीत के द्वारा इस प्रकार का निश्चित भावयुक्त रंजन नहीं होता। संगीत के विशुद्ध श्रवण में श्रोता केवल संगीत का ही आनंद उठाता है उस पर, अन्य वस्तु थोपता नहीं। इसका कारण यह है कि मन में भावनाओं की सत्ता निरपेक्ष नहीं सापेक्ष है।

विशुद्ध संगीत चूंकि अव्याकृत वाणी, जिसे भारतीयों ने 'नादात्मिका वाक्' कहा है, पर आधारित है। इसलिए यह निश्चित भाव या विचार व्यक्त करने में असमर्थ है। निश्चितता, अर्थ में निहित होती है और अर्थ पद में रहता है। ऑटोनोमस विचारधारा के अनुसार पद रहित संगीत ही विशुद्ध संगीत है, इसलिए वाद्य-संगीत ही उनका आदर्श है।

यह सही है कि जिस प्रकार किसी विशेष कला के माध्यम से अभिव्यक्ति करने के लिए विशेष प्रकार की अनुभूति चाहिए, उसी प्रकार किसी कला को समझने के लिए विशेष प्रकार की संवेदना-शक्ति भी आवश्यक है। संगीत रचना के द्वारा किसी विशेष परिस्थिति में कंपोजर, को जो व्यक्तिगत अनुभूति होती है, वहीं व्यक्त होती है। कंपोजर के हृदय में जो अनुभूति होती है, उसी से प्रेरित होकर वह रचना करता है, इसलिए उस रचना में भी उसकी चेतना, चित की विशेष अवस्था तथा अनुभूति की गहराई व्यक्त होती है यही कारण है कि श्रोता के चित पर भी असर होता है, उसे भी कुछ उसी प्रकार की अनुभूति होती है जैसी कंपोजर को रचना के क्षणों में हुई थी।

श्री रवि ठाकुर ने 'बलाका' में कहा है-

"ईश्वर ने पक्षी को गान दिया, मनुष्य को स्वर दिया।" इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य ने स्वर का विकास किया और उसमें से अनंत स्वर उत्पन्न किए, जिनके द्वारा अनंत भावों को प्रकट करने का साधन उसने ढूंढ़ लिया।[3]

संगीत को छोड़कर अन्य सभी कलाओं में अभिव्यक्ति का साधन और अभिव्यंजन भिन्न रहते हैं। कवि के पास शब्द और अर्थ चित्रकार रंग, तूलिका, कैनवास, कागज, भित्ति पर अभिव्यक्ति करता है, मूर्तिकार, पत्थर, मिट्टी खोदकर या मोड़कर अपना मॉडल तैयार करता है, नट अभिनय के द्वारा भावाभिव्यक्ति करता है, शिल्पी ईंट, पत्थर, चूना, गारा, सीमेंट के द्वारा अपनी कल्पना को साकार करता है। अर्थात् इनमें से सभी किसी एक वस्तु के द्वारा उससे भिन्न कुछ व्यंजित करते हैं, जो निश्चित आकार से ग्राह्य होता है। लेकिन संगीत में सब कुछ इतना सूक्ष्म है, एक-दूसरे में परस्पर इतना मिला-जुला है कि अंतर करना असंभव है।

उपर्युक्त विचार से यह सिद्ध होता है कि संगीत के द्वारा भावानुभूति तो अवश्य होती है।

उपर हमने देखा कि अभिव्यक्ति के जितने प्रकार है, उन सभी के माध्यम के अभिव्यंजना करने में संगीत समर्थ है। हमारे यहां सभी कलाओं का लक्ष्य मानव के संवेदनाओं का अनुवाद करना तथा आत्मानंद की प्राप्ति है। फिर भी संगीत मनुष्य हृदय से जितना निकट है, उतनी और कोई कला नहीं।

संदर्भ सूची :

1. शर्मा प्रेमलता, प्रेम रसायन-संगीत मीमान्सा, पृ. 13.
2. गर्ग लक्ष्मी नारायण(सं.), आलेख-चौधरी डॉ. सुभद्रा, संगीत निबंध
3. गर्ग लक्ष्मी नारायण(सं.), आलेख-चौधरी डॉ. सुभद्रा, संगीत निबंध

मौला बख्स खाँ : विद्यालयी संगीत शिक्षा के सूत्रधार

डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

आज की संस्थागत शिक्षण प्रणाली से पूर्व परंपरा से जुड़कर संगीत की चर्चा जब होती है तो गुरू शिष्य द्वारा योग्य शिष्य को अपनी उत्तम विद्या दान करने की परंपरा अर्थात गुरू शिष्य परंपरा भारतीय संगीत में मान्य रही। यहां तक की जबकि गुरू शिष्य संबंध पिता-पुत्र से बढ़कर माना जाता है। यहां तक की समस्त देवताओं से उपर ब्रह्म का स्थान गुरू को दिया गया है। वेद की शिक्षा के अतिरिक्त केवल मात्र संगीत की शिक्षा आज भी गुरू शिष्य परंपरा से संभव है। इसलिए गुरू की महिमा गान का उदाहरण यत्र-तत्र देखने को मिलते है। प्राचीन ग्रंथों में इस बात का प्रचुर प्रमाण है कि प्राचीन काल में संगीत शिक्षण अपने चर्मोत्कर्ष पर था और यह विषय राष्ट्रीय सम्मान का माना जाता है। संगीत शिक्षकों को राज्याश्रय प्राप्त था,उनकी आर्थिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति का बोझ राज्य सहन करता था। अतः वो पूर्ण रूप से कला के प्रति समर्पित होकर उच्चतम ज्ञान प्राप्त करके शिष्य वर्ग को पूरी लगन एवं समर्पण की भावना से शिक्षा प्रदान किया करते थे और शिष्य वर्ग श्रद्धा, लगन, त्याग एवं जिज्ञासा से संगीत शिक्षा प्राप्त करते थे। गुरू-शिष्य परंपरा में शिक्षा अमूल्य दान था, गुरू छात्रों से प्रशिक्षण के लिए किसी आर्थिक प्रतिदान की आशा नहीं करते थे, क्योंकि शाही संरक्षणों से उपहार और चंदे के रूप में प्राप्त भूमि और धन से अपने छात्र के लिए वस्त्र एवं भोजन की व्यवस्था करते थे, किन्तु शाही संरक्षण शिथिल होने के कारण शिक्षक में शिक्षा देने की और छात्र की निष्ठा दोनो ही धीरे-धीरे, समाप्त सी हो गयी। शिक्षक को अपने जीविका साधन खोजने के लिए बाध्य होना पड़ा।

कालांतर में गुरूकुल व्यवस्था से निकल कर संगीत शिक्षा घरानों के रूप में विकसित हुई यद्यपि आरंभ में संगीत का घरानों के रूप में विकसित होना संगीत की विशिष्टताओं को सुरक्षित रखने का कारण ही था, परंतु घरानों की संकुचित मनोवृति के परिणाम स्वरूप संगीत शिक्षा का विषय कुछ व्यक्ति विशेष के लिए रह गया तथा जनसाधारण के लिए ये विषय दुर्लभ हो गया। यूरोपीय काल में भारतीय जनता में भी संगीत के प्रति अरूचि आने लगी और संगीत जनसामान्य से पृथक होने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध आते-आते संगीत के क्षेत्र में नव चेतना की लहर जागृत हुई, एक ओर शिक्षण में भारत के पुर्नजागरण की लहर थी तो दूसरी ओर शिक्षण, साहित्य, रंगमंच और सांस्कृतिक कलाओं में विशेष रूप से संगीत के क्षेत्र में पुर्नउत्थान की क्रान्ति जागृत होने लगी, पुनरूत्थान और सुधार की भावना के लिए इस आन्दोलन के दो प्रणेता थे -विष्णु नारायण भातखंडे तथा विष्णु दिगम्बर पलुस्कर और यही से आरंभ हुआ संगीत की नवचेतना का आन्दोलन जो सर्वप्रथम शैक्षिक विषय के रूप में प्रारंभ किया गया और संगीत को पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर शिक्षा का अंग समझा जाने लगा।

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

इस क्षेत्र में यदि कुछ गहराई से अध्ययन किया जाए तो अवनति काल की गुरू-शिष्य परंपरा की सच्ची तस्वीर भी सामने उतर कर आती है। गुरू-शिष्य परंपरा में व्यवहारिक संगीत अर्थात क्रियात्मक पक्ष तो उच्चकोटि का हुआ करता था परंतु शिष्यों को शास्त्र पक्ष का ज्ञान अति अल्प होता था। इसके अतिरिक्त शिक्षा प्रदान करने की कोई भी निश्चित विधि नहीं थी। गुरूजनों की जैसी इच्छा होती थी वैसे ही प्रशिक्षण दे दिया करते थे। गुरूजनों द्वारा मौखिक प्रशिक्षण देने के कारण कई बार शिष्य कुछ भूल जाते तो उसे पुनः स्मरण कराने के लिए या तो गुरू को अपना समय व श्रम अधिक लगाना पड़ता था अथवा शिष्य उस भूले ज्ञान को पुनः सीखने से वंचित ही रह जाता था। परंतु प्रायः पुनः शिक्षण का प्रावधान नही पाया जाता था। शिष्यों की अल्पसंख्या व दीर्घकालीन तालीम की स्थिति में तो यह परंपरा उपयुक्त थी परंतु इससे विपरीत स्थिति में नहीं। इसके अतिरिक्त शिष्यों द्वारा गुरू से किसी प्रश्न का किया जाना गुरू का अपमान समझा जाता था। गुरू भी शिष्य से कुछ गुर छिपा लेते थे कि छात्र उनसे आगे न निकल जाए। कई बार गुरू की इच्छा न होने पर छात्रों में जानने की ललक होने के बावजूद ज्ञान से वंचित रह जाना पड़ता था। इस पद्धति में स्वर लिपि का कोई प्रचलन नहीं था। इन सब कारणों के चलते छात्रों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। इसी प्रकार मध्यकाल में भी संगीत शिक्षा अनेक अच्छी-बुरी स्थितियों का सामना करती रही। मुस्लिम काल का अंतिम शासक मुहम्मद शाह रंगीले सदैव विलासिता में मग्न रहा करते थे और इसी कारण वह राज्य की बागडोर संभालने में असमर्थ रहा। परिणामस्वरूप अंग्रेज भारत की ओर आकर्षित होने लगे और बहादुर शाह जफ़र को पराजित व कैद के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने पूर्णरूप से भारत वर्ष पर अपना आधिपत्य जमा लिया। इस समय को भारत के इतिहास में पूर्व आधुनिक युग भी कहा गया है। [1]

अंग्रेजो के आगमन से सामान्यतः बाह्य रूप से शिक्षण विधि में अनेक सुधार हुए। इन्जीनियरिंग तथा मेडिकल कॉलेज खुले । प्राथमिक शिक्षा को भी अत्यधिक महत्व दिया गया। इन विद्यालयों एवं महाविद्यालयों परीक्षा एवं प्रमाणपत्रों की योजनाएँ बनने लगी। इस प्रकार अंग्रेजों द्वारा स्थापित इन विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही रखा गया जबकि प्राचीन हिन्दू विद्यालयों व अरण्यकों में शिक्षा का माध्यम संस्कृत व मदरसों में फारसी था। परंतु आंतरिक रूप से ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में किये जाने वाले शैक्षणिक विकास का उद्देश्य भारत में अंग्रेजी भाषा सीखकर उसके माध्यम से अंग्रेजी संस्कृत व ईसाई धर्म का प्रचार करना एवं कार्यकलापों में अंग्रेजी अधिकारियों के अधीन भारतीयों को कलर्क बनाना मात्र था । शिक्षार्थी भी शिक्षा कों केवल जीविकोपार्जन हेतु ही प्राप्त करते थे । इस कारण शिक्षा में नैतिक आध्यात्मिक एवं शैक्षणिक आदि पक्ष परिपक्व नहीं हो पाये। परंतु ब्रिटिश सरकार द्वारा नाकारात्मक भाव से किए गये भारत के शैक्षणिक विकास से शिक्षण विधि में कुछ सुधार अवश्य आया।[2]

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक ब्रिटिश सरकार का आधिपत्य पूर्ण रूपेण स्थापित हो जाने के कारण मुस्लिम शासकों की शक्ति प्रायः समाप्त हो चुकी थी तथा अनेक प्रकार से राजनैतिक, सांस्कृतिक, समाजिक एवं आर्थिक उथल-पुथल भारत में हुई और परिणाम स्वरूप संगीत कला को कोई अधिक प्रोत्साहन नही मिल पाया। संगीत विलासिता तथा मनोरंजन की वस्तु मात्र रह गया। इस कला की बागडोर राजघरानों तथा नगर सेठों एवं साहुकारों आदि के हाथों में आ गई थी। ऐसी स्थिति में साधारण व्यक्तियों द्वारा इस कला को प्राप्त कर पाना तो दुर्लभ ही हो गया था। 'घराना' शिक्षण पद्धति का स्तर भी निम्न होता जा रहा था। घरानेदार गुरूजनों तथा उस्तादों की मानसिकता संकुचित हो गयी थी। डॉ0 मधुबाला सक्सेना के शब्दों में 'ब्रिटिश राज्य के व्यवस्थापकों ने संगीत कला के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाकर उसे यद्यपि व्यक्तित्व के विकास का अंग माना परंतु यह दृष्टिकोण आध्यात्मिक के धरातल पर स्थित न था। उन्होंने

अन्य के समान ही एक विषय के रूप में इसे स्वीकार किया, वैज्ञानिक प्रगति की प्रभावशीलता के कारण यह विषय अन्य पाठ्य-विषयों के बीच उपेक्षित ही रहा। इस प्रकार यदि 18वीं शताब्दी को भारतीय संगीत व उसके पतन का काल कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।[3]

अंग्रेज भारतीय संगीत को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे, साथ ही अंग्रेजी सभ्यता का प्रभाव रियासतों पर भी पड़ने लगा था जिसके फलस्वरूप राजा लोग भी संगीत के प्रति उदासीनता का भाव रखते थे। उसमें बाधा पड़ने लगी, फिर भी कुछ खास-खास रियासतों में, विभिन्न घरानों के संगीतज्ञ साधना में लीन रहे।[4]

साथ ही उन दिनों संगीत का प्रवेश भले घरों में निषिद्ध माना जाने लगा। इसका भी एक विशेष कारण था कि उस समय शासन वर्ग की उदासीनता के कारण संगीत कला निकृष्ट श्रेणी के व्यवसायी स्त्री-पुरूषों में पहुँच चुकी थी। अतः नवीन शिक्षा प्राप्त सभ्य समाज का इसके प्रति उपेक्षा रखना स्वभाविक था। किन्तु संगीत के भाग्य ने फिर पलटा खाया। कुछ सुविख्यात अंग्रेज विद्वानों (सरविलियम जोन्स,कैप्टन विलर्ड) ने भारतीय संगीत का अध्ययन करके इस पर कुछ पुस्तकें लिखी जिनका प्रभाव शिक्षित वर्ग पर अच्छा पड़ा और संगीत के प्रति घृणा का भाव धीरे-धीरे घटने लगा।[5]

अन्य विषयों के शिक्षण के साथ-साथ विद्यालयों अथवा विश्वविद्यालयों में संगीत शिक्षण भी दिए जाने का ज्ञान विस्तृत रूप से नही प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों ने कहा है कि अरस्तु के समय शिक्षा के साथ संगीत शिक्षा भी दिया जाता था परंतु प्रामाणिक रूप से इस संबंध में विस्तृत जानकारी नहीं मिलती। 19वीं शताब्दी के पूर्व भी प्रमाण पत्र (डिग्री, डिप्लोमा) थे या नहीं; निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।[6]

सर इक्लेमेंट, सर विलियम जोन्स तथा भारतीय विद्वानों व राज्य शासकों के विचार-विमर्श स्वरूप भारत की पाठशालाओं में संगीत प्रशिक्षण प्रारंभ हुआ। 19वीं शताब्दी के उतरार्द्ध; लगभग 1850ई0 के आस-पास यमुना बाई के राज्यकाल में बड़ौदा रियासत में प्रथम संगीतशाला के स्थापित होने की जानकारी प्राप्त होती है।[7]

मौलाबख्स धिग्घे नामक प्रख्यात गायक एवं अध्यापक इसे चलाते थें। खॉ साहब की स्वरलिपिबद्ध गीतों की पाठ्य पुस्तके अब भी पुस्तकालय में उपलब्ध है। मौलाबख्स स्वयं एक महान कलाकार, परिश्रमी व कर्मठ पुरूष थे। ये बड़ौदा रियासत के गायक थें। इन्होंने संगीत की संस्थागत शिक्षण प्रणाली को जनसाधारण के सम्मुख लाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। आगरा घराने के सुविख्यात कलाकार उस्ताद विलायत हुसैन खॉ के इन शब्दों के माध्यम से इसकी प्रमाणिकता सिद्ध होती है --

'लगभग सन् 1880 ई0 के आसपास बड़ौदा रियासत में मौलाबख्स खॉ नामक एक गवैये रहते थे जिन्होने हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति का रंग बहुत ही बदल दिया था और कर्नाटक संगीत की सरगम पद्धति पर अच्छी मेहनत की थी। उन्होंने महाराजा सियाजी राव गायकवाड़ की मदद लेकर एक संगीत स्कूल खोला जो सन् 1918 ई0 तक चलता रहा। जब पंडित भातखंडे बड़ौदा गए तो उन्होंने महराजा से अपने कार्य का वर्णन किया और उनसे प्रार्थना की कि उस स्कूल में हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति भी सम्मिलित कर ली जाए।

महराजा यह बात मान गए और बड़ौदा में एक बड़ा स्कूल खोल दिया गया।इसका नाम 'भारतीय संगीतशाला' रखा गया और दरबार के गवैये से इसमें बहुत सहायता मिली। इसमें तसहुक हुसैन खॉ आगरा वाले, फिदा हुसैन खॉ और निसार हुसैन खॉ रामपुर वाले, अताहुसैन खॉ अतरौली वाले भीकम खॉ सितार नवांज बडौदा वाले और आविद हुसैन खॉ जयपुर वाले अध्यापक नियुक्त हुए। शुरू में उस्ताद फैयाज खॉ भी हफ्ते में एक बार सिखाने के लिए आते थें।[8]

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि मौला बख्स द्वारा संचालित इस विद्यालय में भातखंडे जी के प्रयत्नों द्वारा हिन्दुस्तानी संगीत का प्रशिक्षण भी दिया जाने लगा और अनेक घरानेदार उस्तादों ने

इस विद्यालय में विद्यार्थियों पर अपना ज्ञान सागर उड़ेला। सांगीतिक विद्यालयी शिक्षण के साथ-साथ मौलाबख्श जी ने एक 'स्वर लेखन पद्धति' की रचना की। इस 'स्वर लेखन पद्धति' ने संगीत की विद्यालयों कों वांछनीय लाभ प्रदान किए। छात्रों को अब एक बंदिश सीखने के लिए वर्षों तक घरानेदार उस्तादो की मनमानी व 'मूड' का सामना नहीं करना पड़ता था। इनके द्वारा प्रतिपादित स्वर लेखन पद्धति के विषय में एलिजावेथ डी0 जोन्स इनाजत खॉ बायोग्राफी में लिखती है -

Maula baksh invented a system of notation where by the raga which had hiter to padded on orally could be recorded.[9]

पंडित दिलीप चंद्र बेदी के शब्दों में -मौला बख्श के सहयोगी रियासत भावनगर के जियालाल भाई ने 1901 ई0 में गुजराती भाषा में 'संगीत कलाधर नाम से 500 पृष्ठ की एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें मौला बख्श की स्वर पद्धति को स्वीकार किया गया।[10]

इस प्रकार मौलाबख्श को विद्यालयी शिक्षण का जनक कहा जा सकता है। इन्होंने एक नई पद्धति का सफल सूत्रपात तो अवश्य किया। संगीतोत्थान में इनका योगदान अविस्मरणीय है।

संदर्भ सूची :

1. दत्ता (डा0) पूनम, भारतीय संगीत शिक्षा और उद्देश्य, राज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2005, पृ0-55
2. तथैव
3. सक्सेना (डा0) मधुबाला, भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर, पृ0-84
4. दत्ता (डा0) पूनम, भारतीय संगीत शिक्षा और उद्देश्य, राज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2005, पृ0-56
5. बसंत, संगीत विशारद, पृ0-28
6. बसंत, संगीत विशारद, पृ0-28
7. रतनजनकर, श्रीकृण (सं0), भातखण्डे स्मृति ग्रंथ, पृ0-23
8. खां विलायत हुसैन, संगीतज्ञों के संस्मरण, पृ0-14
9. किसिंग एलिजावेथ डी0जोन्स, इनायत खां (बायोग्राफी), पृ0-14
10. कपूर तृप्त, उत्तर भारत में संगीत शिक्षा, पृ0-120

संगत में अमीर खुसरो की देन

डॉ. कमलदेव

अमीर खुसरो का वास्तविक नाम अबुल हसन था। इनके पिता अमीर सैफुद्दीन महमूद (सैफे शम्सी) लाचीन निवासी तुर्क थे और वे सुल्तान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश (राज्यकाल 1210-39 ई0) और उसके उत्तराधिकारियों के समय उच्च पदों पर नियुक्त रहे। अमीर खुसरो के नाना, सुल्तान बलबन के राज्य के एक उच्च पदाधिकारी एमादुल्मुल्क थे, जो मूलतः हिन्दू थे, अतः अमीर खुसरो ने कहा है कि मेरी मातृभाषा हिन्दी है।

अमीर खुसरो का जन्म 651 हि0 (1253 ई0) में हुआ, उनके जन्मस्थान होने का गौरव उत्तर प्रदेश के एटा जिले में स्थित पटियाली ग्राम को प्राप्त है। इस प्रकार अमीर खुसरो पितृ परंपरा से तुर्क और मातृ-परंपरा से ब्रजवासी हिन्दू (भारतीय) थे।

अमीर खुसरो ने फारसी के प्रमुख कवियों की रचनाओं का अध्ययन किया और प्रत्येक कवि की शैली का अनुकरण करना आरंभ कर दिया। उन्होंने फारसी, तुर्की और अरबी के अतिरिक्त हिन्दी का भी अध्ययन किया था।

बलबन के राज्यकाल (1265 ई0-1287 ई0) में अमीर खुसरो बलबन के भतीजे अलाउद्दीन किशली खां के दरबार में नौकर हो गये। इसके पश्चात् उन्होंने बलबन के कनिष्ठ पुत्र बुगरा खां की नौकरी कर ली। वे बुगरा खां के साथ लखनौती भी गये, परंतु बलबन के साथ लौट आये। प्रायः 1279 ई0 में खुसरो बलबन के ज्येष्ठ पुत्र शाहजादा मुहम्मद के नदीम (मुसाहब) होकर मुलतान चले गये। शाहजादा मुहम्मद 1284ई0-85 ई0 में मुगलों के हाथ से मारा गया और अमीर खुसरो मुगलों के हाथों बंदी हो गये। उन्हें हिरात और बलख में बंदी जीवन बिताना पड़ा। बंदीगृह से भागकर वे किसी प्रकार गयासुद्दीन बलबन की सेवा में उपस्थित हुए और उन्होंने शाहजादा मुहम्मद की मृत्यु से सम्बद्ध शोक-काव्य बलबन को सुनाया। उस काव्य के प्रभाव से बलबन इतना रोया कि उसे ज्वर चढ़ आया और तीसरे दिन उसकी मृत्यु हो गयी।

बलबन की मृत्यु के पश्चात् खुसरो अमीर अली जामदार के आश्रित रहे ओर उसके साथ अवध चले गये। 1288 ई0 में इन्हें कैकुवाद (राज्यकाल 1287ई0-90 ई0) ने बुला लिया और ये शाही दरबार के आश्रित हो गये। कैकुबाद की मां हिन्दू (भारतीय) थी और अमीर खुसरो भी भारतीय नारी के संतान थे, अतः कैकुबाद खुसरो को अत्यंत स्नेह करता था।

जलालुद्दीन खिलजी (राज्यकाल 1290ई0-95 ई0) के युग में अमीर खुसरो की नियुक्ति बादशाही पुस्तकालय के अध्यक्ष के स्थान पर हुई, वे प्रतिदिन सुल्तान की महफिल में नयी-नयी गजलें प्रस्तुत करते थे। अलाउद्दीन खिलजी (राज्य-काल 1295ई0-1316 ई0) के युग में भी खुसरो दरबार से सम्बद्ध रहे, कुतुबुद्दीन खिलजी (राज्यकाल 1316ई0-20ई0) के दरबार में उन्हें बड़ा सम्मान मिला। गयासुद्दीन तुगलक (राज्यकाल 1320ई0-25 ई) के साथ 1324 ई0 में अमीर खुसरो बंगाल गये और इसी वर्ष निजामुद्दीन के स्वर्गवास के पश्चात् 1325 ई0 में

चेयर पर्सन, बाल कल्याण समिति, दरभंगा

अमीर खुसरो स्वर्गवासी हो गये। उन्हें निजामुद्दीन चिश्ती की समाधि के समीप ही समाधिस्थ किया गया। मृत्यु के समय खुसरो की आयु 72 वर्ष थी।

खुसरो के ग्रंथ :

जामी ने 'वफाहातुल् उन्सा' नामक ग्रंथ में लिखा है कि खुसरो ने निन्यानवे पुस्तकों की रचना की, जिनमें से अब निम्नांकित उपलब्ध हैं-

1. 'तोहफतुस्सिगार' में वे कविताएं संगृहीत हैं, जिनकी रचना खुसरो ने 15 वर्ष की आयु से 19 वर्ष की आयु तक की।

2. 'वस्तुल् हयात' में उन कविताओं का संग्रह है, जिनकी रचना खुसरो ने 19 वर्ष की आयु से 34 वर्ष की आयु तक की। इनमें से अधिकांश कविताएं बलबन के ज्येष्ठ पुत्र सुल्तान मुहम्मद एवं अन्य अमीरों के विषय में है।

3. 'गुर्रतुल्-कमाल' में वे कविताएं संगृहीत हैं, जिनकी रचना खुसरो ने 34 वर्ष की आयु से 40 वर्ष की आयु तक की। इनमें 'मिफ्तातुल्-फुतूह' भी है, जिसमें जलालुद्दीन खिलजी की विजयों का वर्णन भी है।

4. 'बकीअए नकीआ' में खुसरो द्वारा की हुई उन कविताओं का संग्रह है, जो बासठ-तिरसठ वर्ष की आयु तक की गयी है।

5. 'निहायतुल्-कमाल' में खुसरो के जीवन के अंतिम भाग में लिखी हुई कविताएं संगृहीत हैं।

पूर्वोक्त पांचों पुस्तकें खुसरो के पांच 'दीवान' हैं।

महाकवि निजामी का अनुकरण करके खुसरो ने 'खम् सा' लिखा, जिसमें निम्नांकित पांच पुस्तकें हैं-

1. 'मतउल् अनवार' की रचना 1298 ई0 में हुई। भगवद्भक्ति और सदाचार इसके विषय हैं। इसमें बीस अध्याय हैं। पुस्तक की रचना में दो सप्ताह लगे। इस समय खुसरो 45 वर्ष के थे।

2. 'शीरीं व खुसरो' में शीरीं और खुसरो का प्रेमाख्यान है। यह भी प्रायः 45 वर्ष की आयु (1298 ई0) में लिखी गयी।

3. 'मजनूं व लैला' प्रायः 47 वर्ष की आयु में लिखी गयी।

4. 'आईन-ए-सिकंदरी' में सिकंदर का किस्सा है, इसकी रचना 1299 ई0-1320 ई0 में हुई।

5. 'हश्त-बहिश्त' में बहराम और दिलाराम की प्रेमकथा है, इसकी रचना 1302 ई0 में हुई।

'रसालए ऐजाज' अथवा 'ऐजाजे खुसरवी' में खुसरो ने अपनी गद्य रचनाओं का संग्रह किया है, इसकी भाषा अत्यंत आलंकारिक है। इसमें पांच पुस्तकें संगृहीत हैं। पहली चार पुस्तकें 1283ई0-84 ई0 तक लिखी गयीं और पांचवीं पुस्तक की रचना 1319ई0-20ई0 में हुई।

26 वर्ष की आयु में खुसरो मुलतान चले गये थे, जहां बलबन का ज्येष्ठ पुत्र शाहजादा मुहम्मद सूबेदार था। उस समय मुलतान मुस्लिम विद्याओं का केन्द्र था। संगीत को गणित की एक शाखा मानकर उसका अध्ययन एवं अध्यापन होता था। मुलतान में शेख बहाउद्दीन जकरिया मुलतानी जैसे महान् संगीतमर्मज्ञ की परंपरा फल-फूल रही थी। उनके पुत्र शैख कदवा महान् संगीत-मर्मज्ञ और शाहजादा मुहम्मद के परम श्रद्धास्पद थे, जिनसे अमीर खुसरो लाभान्वित हुए। दिल्ली लौटने के पश्चात् खुसरो ने कैकुबाद की आज्ञा से 'किरानुस्सादैन' (1289 ई0) लिखा, जिसमें उन्होंने कहा कि मुझे ईरानी संगीत के चार उसूलों, बारह पदों तथा सूक्ष्म रहस्य का ज्ञान है। 'पर्दा' शब्द का अर्थ तंत्री वाद्यों पर स्वरों की अभिव्यक्ति के लिए स्थापित सारिकाएं हैं। इन्हें मुसलमान गुणी आज भी 'पर्दा' कहते हैं, हारमोनियम में विभिन्न स्वरों को व्यक्त करनेवाली 'पट्टियां' भी पर्दा कहलाती हैं।

संगीत में प्रयोज्य बारह स्वरों के ईरानी नाम क्रमशः रास्त, शहनवाज, दोका, कुर्द, सीका, गिरका, हिजाज, नवा, हिसार, हुसेनी, अगनू और नीम माहुर हैं। इन्हीं बारह नामों के आधार पर खुसरो ने भारतीय रागों का वर्गीकरण किया।

भारतीय संगीत के विषय में अमीर खुसरो ने कहा है कि संसार के किसी भी देश के संगीत को भारतीय संगीत के समान नहीं कहा जा सकता, यहां का संगीत मन तथा प्राणों में ज्वाला भड़का देता है। संसार के विभिन्न भागों से संगीत सीखने के लिए लोग भारत में आये, परंतु वर्षों प्रयत्न करने पर भी वे सफल न हुए।

यहां का संगीत मनुष्यों को ही नहीं, पशुओं तक को प्रभावित कर देता है। भारतीय संगीत से हरिण कृत्रिम निद्रा में निमग्न होकर बधिक का शिकार हो जाते हैं। यदि कोई अरब के संगीत से भारतीय संगीत की तुलना करे, तो मैं कहूंगा कि संगीत के सहारे यात्रा करनेवाले ऊंटों को चलने का तो होश रहता है, परंतु भारतीय संगीत के द्वारा मोहित हरिण तो सर्वथा चेतनाहीन हो जाते हैं।

खुसरो ने उन उद्‌गारों को जब प्रकट किया, तब उनकी आयु पैंसठ वर्ष थी और वे गोपाल नायक जैसे गुणियों के संपर्क से लाभान्वित हो चुके थे। उस समय कुतुबुद्‌दीन खिलजी का राज्यकाल था। गुजरात की परवार नामक एक सुन्दर हिन्दू संगीतजीवी जाति का आकर्षक नवयुवक खुसरो खां (उपाधि) कुतुबुद्‌दीन खिलजी का प्रसिद्ध और प्रभावशाली प्रेमपात्र था और अंत में वह कुतुबुद्‌दीन खिलजी की हत्या करके स्वयं दिल्ली सम्राट बन गया था।

अस्तु, खुसरो पहले से भी भारतीय और अभारतीय संगीतज्ञों में प्रतियोगिताएं कराते थे।

कव्वाली की गोष्ठियों में जब शैख निजामुद्‌दीन चिश्ती नाचने लगते, तब अमीर खुसरो भी गाते थे।

खुसरो विद्याव्यसनी जीव थे, इसीलिए वे ब्राह्मणों के भी बड़े भक्त थे। उन्होंने भारतीय ब्राह्मणों को विद्या में अरस्तु के समान कहा है। उन्होंने ब्राह्मणों से कुछ सीखा था, इसीलिए खुसरो उनका महत्व समझते थे। उन्हें शिकायत थी कि (शासन के द्वारा) ब्राह्मणों के ज्ञान से लाभ नहीं उठाया गया।

महमूद गजनवी के आक्रमण के पश्चात् ही विद्वान् ब्राह्मण मूल्यवान ग्रंथों को लेकर उन प्रदेशों में पहुंच गये थे, जहां मुसलमानों की पहुंच नहीं थी।

अबुल-फजल के अनुसार खुसरो ने 'समित' और 'तातार' की सहायता से 'कौल' और 'तराना' का आविष्कार किया।

खुसरो निस्सन्देह युगप्रवर्तक भारतीय थे, महापुरूष थे, उनका महत्व इस तथ्य में है कि उन्होंने भारतीय विद्वानों को बारह स्वरों वाली मुकाम पद्धति से परिचित कराया और भारतीय ग्रंथों की विचारधारा 'मुकाम-पद्धति' की ओर मोड़ दी।

चिश्ती-परंपरा में 'वसन्त' और 'रंग' का प्रवेश ब्रजभाषा में विरचित गीतों का, विभिन्न अवसरों पर अनिवार्य रूप से, गाया जाना खुसरो की ही देन है। आज भी शैख निजामुद्‌दीन चिश्ती की दरगाह में खुसरो के ब्रजभाषा-गीत परंपरा के रूप में गाये जाते हैं।

खुसरो विशुद्ध भारतीय थे, उन्होंने 'नूह सिपहर' में गर्वोक्ति करते हुए कहा है कि भारतवर्ष अन्य देशों की अपेक्षा इसलिए भी श्रेष्ठ है कि कविता द्वारा जादू करनेवाला खुसरो भारतीय है।

भारतीय वैष्णवों की दृष्टि में गोपियां जीवात्मा हैं और कृष्ण परमात्मा। गोपीरूप जीवात्मा कृष्णरूपी परमात्मा में मिलन के लिए आकुल है। यह दृष्टिकोण खुसरो ने सर्वथा अपनाया था। हरदेव को निजामुद्‌दीन चिश्ती के आंसुओं में नृत्य करते हुए कृष्ण की छवि दिखाई दी थी।

निजामुद्‌दीन औलिया की समाधि को देखकर अमीर खुसरो ने यह प्रसिद्ध दोहा कहा-

"गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुंदेस।"

संदर्भ सूची :

1. चेहल रोज, निजामी बंसरी, पृ0 28
2. चेहल रोज, निजामी बंसरी, पृ0 299-300
3. आदिकालीन भारत, पृ0 277
4. चेहल रोज, निजामी बंसरी, पृ0 30
5. आदि तुर्ककालीन भारत, पृ0 278

संवाद का माध्यम संगीत

डॉ0 माधुरी सिंह

संवाद यानि विचारों या अपने मनोभावों का आदान-प्रदान करना, चाहे वह भाषा के माध्यम से या इशारों के माध्यम से या संगीत के माध्यम से या अभिनय के माध्यम से किया जाए ये सभी अवस्थाएं संवाद को सूचित करती है।

संवाद की आवश्यकता मनुष्य के जन्म के साथ ही प्रारंभ हो जाती है। सर्वप्रथम एक बालक जन्म लेता है तब पहला संवाद अपनी माता के साथ होता है भले ही वह बातचीत नहीं कर सकता परंतु अपने आंतरिक अनुभूति को हंसकर रोकर या अन्य शारीरिक गतिविधियों द्वारा अपनी माँ तक पहुँचाता है। जिसके फलस्वरूप माँ को समझ में आ जाता है कि इसे भूख लगी है या प्यास लगी है या शारीरिक कष्ट है। इसी प्रकार पशु-पक्षियों में होनेवाले पारस्परिक संवाद से समस्त रहस्य खुल जाते हैं। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जब भी कोई गहरा अनुभव होता है तो या चोरों की आने की आहट से कुत्ते जोर जोर से भौंकने लगते हैं अर्थात् वो अपनी भाषा में आनेवाले खतरे से हमें आगाह करते हैं। यदि कोई कौवा पकड़ा जाए या कंकर आदि का निशाना बन जाए तो समूह के समस्त कौवा एकत्रित होकर कांव-कांव करके आकाश सिर पर उठा लेते हैं। परंतु मानव ने समूह के रूप में जिस समाज की रचना की उसमें पारस्परिक व्यवहारिक अनुभवों, शंकाओं एवं विचारों का एक दूसरे के साथ आदान-प्रदान होते हुए एक दूसरे के सुख-दुख के भागीदार बनकर एक दूसरे के कष्टों को बांटने की भावना व्याप्त रही है। संभवतः यही उसमें संवाद का प्राथमिक लक्ष्य भी बना। उचित संवाद के सक्रिय सहयोग से मनुष्य अपने तथा समाज की उन्नति के लिए कार्य करता है। आचरण को संस्कारिक करने के लिए अवधारणाओं गुणों, प्रतीकों सिद्धांतों मानदण्डों आदि को निर्धारित होने से संवादात्मकता की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। एक स्थान पर एकत्रित रूप में रहनेवाला तथा आजीविका के लिए मिलजुल कर कार्य करने वाला व्यक्तियों का वह समूह को निरंतर प्रयत्नशील रहता है, समाज कहलाता है।

एक संवेदनशील व्यक्ति अपने हृदय की जिन भावनाओं और अनुभूतियों को भाषा के माध्यम से व्यक्त नहीं कर पाता उसको अन्य माध्यमों से अभिव्यक्ति प्रदान करता है जिसमें कला का निर्माण होता है। इस अभिव्यक्ति विशेष के द्वारा वह अपनी संवेदात्मक अनुभूतियों का व्यक्तिकरण करता है। जब किसी व्यक्ति से संवेदात्मक क्रिया आरंभ होती है तो उसे लेखनी से अगर कागज पर उतारा जाए तो साहित्य, काव्य, नाटक, कहानी का जन्म होता है, इसी संवेदना को अगर तूलिका एवं रंगों के माध्यम से प्रकट किया जाए तो चित्रकला का स्रोत्र बनता है। अपनी कोमल भावनाओं को पत्थर और छेनी के माध्यम से प्रकट किया जाए तो कठोर भी कोमल भावनाओं से परिपूर्ण मूर्त आकारों में परिवर्तित हो जाता है तो मूर्तिकला का जन्म होता है और यही संवेदनाएं जब प्रेम, विरह, भक्ति आदि भावों से स्वर एवं लय के माध्यम से मुखारित होती है तो संगीत की स्रोत बन जाती है।

श्री अर्जुन लाल हिराणी कॉलेज ऑफ जर्नालिज्म एण्ड परफोर्मिंग आर्ट्स, सौराष्ट्र युनिवर्सिटी, राजकोट

सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ के दो पक्ष होते हैं। सुख-दुख, हास्य-रूदन, आसक्ति-अनास्तिक। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रत्येक कला में जहां मधुर रस की सरिता प्रवाहित होती है वहीं करूण रस का सागर भी है। हर्ष और प्रेम की क्षणों की अभिव्यक्ति तो है ही साथ में करूण, वीर और भयानक रसोद्रेक भी है। विह्वल हृदय यदि गीत गाकर, सुख पाते हैं तो कभी सौन्दर्य से परिपूर्ण सत्यम, शिवम, सुंदरम जगत का निर्माण करती है।

कला के निर्माण में व्यक्ति-बुद्धि के साथ-साथ समष्टि बुद्धि भी कार्य करती है यही बुद्धि व्यक्ति के हृदय में किसी विशिष्ट कृति का निर्माण करने की प्रेरणा देती है उसकी कलात्मक भावनाएं सामाजिक एवं संकीर्ण भावों से उपर उठकर स्वतंत्र वातावरण में विचरण करते हुए अमर कृतियों का निर्माण करती है। यही कलाकृतियां स्वान्तः सुखाय परसुखाय एवं समग्र सुखाय की भावना को विस्तार प्रदान करती है। मां सरस्वती के दोनों हाथों में वीणा और पुस्तक धारण करना इस तथ्य का संकेत करती है।

"नादेन व्यंजते वर्ण : पदं वर्णापदाहृचः
वचसो व्यवहारोयं नादाधीनमतो जगत।"

अर्थात् नाद से वर्ण, वर्ण से पद, पद से वाक्य, वाक्य से भाषा की उत्पत्ति होती है। इस कथन के भावानुसार-भाषा के मूल में नाद तत्व है। यही संगीत का माध्यम है। काव्य में कला मापक यंत्र को छन्द कहते हैं और संगीत के क्षेत्र में यही कालमापक यंत्र ताल कहलाता है जैसे 'ताल काल क्रियामात्रम' दोनों की इकाई मात्र है, लेकिन दोनों की मात्रा के नापतोल में अंतर है। छन्द की मात्रों का काल निश्चित है जबकि संगीत की मात्रा का काल आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। इसमें दोनों के मूल धर्म और कार्य पद्धति में भिन्नता नहीं आती। संगीत, मनोभावों की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम माना गया है 'सीशोर' ने तो इसको संवेगों की भाषा ही कहा है। संगीत द्वारा मानव अनेक प्रकार के दबे हुए मनोभावों को परिष्कृत रूप में प्रकाशित करता है। मनुष्य सुख में हो या निराशा में, आसक्ति में हो या विरक्ति में - संगीत को माध्यम बनाकर हृदयगत भावों को अभिव्यक्त करके कई प्रकार के विकारों से मुक्ति पा लेता है। संगीत का माध्यम नाद है अर्थात् स्वर संगीत की भाषा है। सर्वव्यापी होने के कारण शब्द को आकाश का गुण माना गया है - "शब्द गुणमाकाशम" अभिव्यक्ति का कारण होने से "वाक" सरस्वती का रूप माना गया है, क्योंकि सरस्वती ही वर्णोत्तमिक तथा नादात्मिका वाक् का आधार है। इसी वाकतत्व को जहां व्याकरण तथा दर्शन में शब्द ब्रह्म कहा गया है। वहीं संगीत शास्त्र में नाद ब्रह्म के नाम से जाना गया है। स्वर को संगति की भाषा कही गई है। संगीत में विविध स्वर प्रयोग द्वारा हम हृदयगत भावनाओं को व्यक्त करते हैं इसमें दो मत नहीं है। स्वरों का प्रयोग करते समय प्रयोक्ता के मन में जो भाव होते हैं अर्थात् जिस भाव को अभिव्यक्त करना चाहता है वह उसी के अनुरूप स्वरों का प्रयोग करता है और श्रोता भी वही स्वर सुनता है अतः प्रयोक्ता के भावों की अनुभूति श्रोता को भी हो सकती है। स्वर एवं भावों में कुछ संबंध तो आवश्यक है क्योंकि विशेष स्वर सन्निवेशों के द्वारा विशेष भाव का बोध होता है। जैसे गौरी, तोड़ी इत्यादि रागों के स्वरों के द्वारा जो करूणा व्यक्त हो सकती है। वह शंकरा एवं भूपाली राग के स्वरों के द्वारा नहीं व्यक्त हो सकती। यदि हम संगीत को संवाद का माध्यम मानते हैं, तो यह प्रश्न आता है कि संगीत द्वारा संवाद कैसे होता है तथा संगीत द्वारा संवाद किस प्रकार किया जाता है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के लिए संगीत की व्याकरण इसकी प्रयोगशीलता, प्रभावशीलता, अलंकृत करने की शक्ति तथा संगीत की तरलता आदि को समझना होगा क्योंकि ये सब संगीत की संवादात्मक को प्रभावित करता है। भाषा को संवाद का एक सीमित माध्यम कहा जा सकता है। प्रत्येक भाषा की अपनी विधि व्याकरण और अपना अलग स्वरूप होता है भाषा नाद का ही विकसित रूप है क्योंकि शब्द में अपार शक्ति निहित है। लेकिन इसकी एक सीमा है भाषा के द्वारा हम उन्हीं लोगों तक पहुंच सकते हैं जिनको उस भाषा विशेष का ज्ञान हो उस सीमा से

परे भाषा द्वारा किया गया संवाद प्रभावी होगा जहां भाषा की सीमा समाप्त होती है वहीं से संगीत की सीमा आरंभ होती है और अनंत तक विस्तृत है। संगीत का मूल तत्व एक ही है और वह है उसकी नादात्मक शक्ति। संगीत का वाह्य स्वरूप उसका प्रस्तुतिकरण का ढंग भिन्न-भिन्न हो सकता है। लेकिन उसका लक्ष्य समान है। यही कारण है कि संगीत को विश्वभाषा माना जाता है। कई विद्वानों ने इसका समर्थन करते हुए कहा है-

Music is an universal language, as H.W.Long fellow (1986)

Mic Kinney and Anderson (1962) and Newman (1961) maintain but in the sence only that making for which they are intelligible shares of common intelligence.

संगीत के संवादात्मकता की एक खास विशेषता यह है कि यह मूक एवं बाधिर व्यक्तियों को भी प्रभावित करता है। संगीत में गायन एवं वादन यथार्थ यद्यपि बधिर व्यक्ति को प्रभावित नहीं कर सकते परंतु नृत्य की गतिमानता भाव प्रदर्शन और अभिनय निश्चित रूप से इन्हें प्रभावित करते हैं मानसिक रूप से विक्षिप्त व्यक्तियों पर भी किये गए शोध कार्यों से ये सिद्ध हो चुका है कि संगीत की संवादात्मक शक्ति उनके लिए औषधि बनकर उनकी चिकित्सा में सहायक सिद्ध होती है। संगीत की संवादात्मक के संदर्भ में भारतीय संस्कृति की एकता सहिष्णुता तथा सहनशीलता समन्वयशीलता आदि विशिष्ट बन जाते हैं। भारत एक धर्म प्रधान देश है। इसमें अनेक धर्मों के लोग निवास करते हैं परंतु फिर भी भारतीय संस्कृति अपनी आध्यात्मिक आधारशीला पर हृदय में व्याप्त करने में अध्यात्म, प्रेम, वात्सल्य, माधुर्य, आनंद आदि समस्त भावों को अभिव्यक्त करने में तथा अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप देने में मन के सूक्ष्म तत्वों को अभिव्यक्त कर उन्हें स्थूल रूप प्रदान का पुनःसूक्ष्म रसात्मक अभिव्यक्ति की संवादात्मक शक्ति को पूर्णता प्राप्त करते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि संगीत की संवादात्मक शक्ति अत्यंत सबल, अखण्ड असीमित और अनंत है।

संदर्भ सूची :

1. वर्मा रामचन्द्र, प्रामाणिक हिन्दी कोश, पृ0 1283
2. गोस्वामी जी0एन0, कला एवं संस्कृति, पृ0 104
3. प्रसिद्ध ध्रुपद गायक पं0 उमाकान्त गुंदेचा, पं0 रामाकान्त गुंदेचा साक्षात्कार के आधार पर
4. पं0 शारंगदेव, संगीत रत्नाकर, मंडल-1, सूक्त 2
5. अमरकोश, प्रथम खण्ड, सात वर्गांक, श्लोक 61
6. चक्रवर्ती डॉ0 इन्द्राणी, संगीत में नाद रूप एवं ध्वनि पक्ष के विभिन्न आयाम-नीता मिश्रा के पुस्तक के आमुख से, पृ0 257
8. प्रसिद्ध मोहनवीणा वादक पं0 विश्वमोहन भट्ट से की गई बातचीत के आधार पर

Importance of Modern Inventions in the Music Education

Dr. Ashwini Kr. Singh

Education has its own place in the things which is considered important to make life cultured and wealthy. Since centuries, human is learning from surroundings events, experience, history and happenings. Human is finding his way of benefits whether it's a food or shelter, human is trying to get it. Obviously he is interested in keeping his mind happy. Undercurrent of singing, dancing and sports can be done on the way of entertainment. Songs are integral part of human life and human achieved success in making it independent science. Whatever kind of music is. Heritage of our traditional classical music is quite wealthy. There is no need to repeat its history or development.

We know this fact well that it was impossible to sing in our home during the beginning of this century. Listening was also prohibited. Music was undercurrent in the civil society during those times. But it was tried to bring music closer to the society as music is associated with human life, and after many efforts , music could become integral part of human life. Today every class of the society is taking interest in singing, playing and dancing. Education facility is available everywhere. Junior artist is engaged in art exhibition and counting of functions done by the artists is also difficult. Use of radio, tape recorder, TV etc. is widespread. It is necessary to think about the effect on education by isolating the entertainment from these versatile activities. By the way our tradition of getting music education is from teacher. Music was taught by the teachers to student by this method only, till the other way of getting music education was not available. This method had its own advantage and disadvantage. Opportunity to remain present in front of teacher, time given for study, number of students, grasping and memorizing capacity of the student, time required in mugging up by continuous revision etc, are important in this education method. Student was produced capable of making tradition bright. Music world went on developing by the factors like duly repetition by the student, natural gap occurring in memorizing the things, difference of melody etc.

New form of different kind of music was sparkling and from other side, new brilliant artist were emerging. Science of music was written. It was considered as

Lecturer, Faculty of Music & Performing Arts, M.S. University, Baroda.

standard but due to association of melody concept and invention occurrence of gap was natural. These facilities were incomplete due to availability of notation witting facilities. But due to notation, we get opportunity to improve wrong singing. We know that Pandit Bhatkhandeji has done important work in this direction by the use of notation. One research done in the last century was successful in giving a new direction to our music This invention of recording a music and repeatedly listening certainly brought music on the different path. Gramophone company has taken advantage of this technology and recorded the voice of our many famous singers. We have to believe by listening whatever record of that time is available that, this achievement has greater impact on the music world. We listen approximately three minutes duration of old recording of those singers, enjoy it and can study it. It is difficult to estimate the loss because of recording was not done of great people due to some reasons, Believe that new era of music started due to this. One more research was same beneficiary for our music and that is an amplifier. Our instrumental music got must advantage of this. Singing is more effective rather than instrumental music in our music. Construction of our music instrument and its recording capacity is responsible for this. In comparison with vocal music, the production capacity of Vina, Sitar etc. is less, so it got less opportunity in exhibiting it to the public. But microphone and loudspeaker changed the scenario. Effect of instrumental music was increasing in the public mood. There is no any surprise if all these research will be proven boon to our music.

Recording time is increased from 3 minutes to 5 minutes, 15 minutes, and then wire and then spool recorders came before us and we were more benefited from them. We got opportunity of repeatedly listening of great invention of any artist which was impossible for us till 1945. There is a little worry, about newly came cassette recorder because of their easy use. There is a doubt of decreasing value of required efforts in understanding, learning and assimilating music and because of cheap availability of cassette recorder which could be harmful to the music.

As mentioned earlier it is necessary to seat in fronts of guru (teacher), under the monitoring of Guru (teacher) to assimilate the melody development process in the study of classical music. Learning the process of elaborating Ragas (melody) concept by listening and presenting it by assimilating is not easy. It requires quite long time to understand the forms of raga (melody) equilibrium and distention in it. As far as education is concerned, we can make effective use of this researched invention in this situation. Raga (melody) invention, understanding Raga by repeatedly listening, estimating owns growth etc can be done nowadays. Student can get benefit by repeatedly listening the matters which was recorded during the guidance Now it become very easy to listening many artist and understand different singing style. It's good news that this research is being used in the education. This can be used in some other work also like recording the practice of Tanpura andTubla and using it. Today achievements are available for the people

which was not available to the music lover of last generation but the correct usage of this is very necessary. We have to protect ourselves from sagginess coming in study and efforts of easily available facilities otherwise This achievement can be harmful.

Responsibilities of providing such facilities to the students and showing the right path to the students lies on the music institute. Now it is necessary to highlight the efforts done by the Akhil Bhartiya Gandharva Mahavidyalay Mandal. Mandal has started working in this direction since some last years. Around 4 to 10 days training programmes are being organized at different places by gathering expert educationalist. Students are trying to understand music related problems there. Students get more benefit from this type of experiments. Training sessions can also be made available to the students for the study by recording it. Mandal has taken one more step in this direction and that is sound recording museum. Recorded music of many artists, different Ragas (melody) of different places from time to time, can be made available to the students for the purpose of study. One can get chance to listen programmes of around forty years starting from 1950 to till date. Here there is a collection of invention of the ragas (melody) of around 300 different artist consisting of lecture, case study, forms of ragas with examples, different forms of same ragas with an example. Gap in the same raga can be listened in the stored recordings of this museum. Here we can estimate the change in the melody concept of same ragas sung by same artist in 1950, 1960,1970 and 1980 Detailed study can be done in this museum on different topics like musical development of artist mixed and combined ragas etc. In short this museum is a boon to the students of music education and new emerging brilliant artist

Around 1800 hours of music is available in this museum of the Mandal. Here one can get opportunity to listen song, instrument of famous artist and musicist like Rajab Ali Kha, Alla Uddin Kha, Hafiz Ali Kha, Vaheed Kha, Vilayat Hussen Kha, Dilipchandra Bedi, Mirashibua, Laxmibai, Krishanrao Pandit, Patangankar, Thakur Saheb, Narendra Shukla etc. In this museum from dutes like violin and sitar, sitar and bugel, to the invention of Vyasji – Patvardhanji, Bhimsen Joshi – Vasantrao Deshpande, Ali Akbar – Vilayat Kha, Nikil Benarjee, Ali Akbar Kha and Bismilla – Latafat Hussen, can be listened. Around 750 bandish sung by well educated artist are collecated in this museum which includes artist like Mirashibua, Ratnakanti Rannathkar, Kamal Tambe, Latafat Hussen, V.R. Athawale etc. Pandit Ganjananbua was such artist who was expert in Gwaliar, Jaipur and Agra style singing. He was expert in singing besides violin. It is a matter of proud for the museum that the record of giving training to the student by such famous artist is available. Around 50 hours of this sound recording is the best examples of getting training and taking care of learning. One can get opportunity to listen how the training of difficult ragas like bhupali durga, yaman, malkans, deskap, suha, sudhapai, pancham, raysa are given. Whole sound recording of this museum is kept properly. Whole collection is

arranged in a planned manner and new recordings are added from time to time. By the way, this type of collocation or bigger collection than this collection is available at different places but no collection is found suitable which is useful in music education. Matter of satisfaction is that students are taking advantage of this modern collocation.

Vishnu Digambar and Matkhandeji, sacrified their life for giving a new turn to the classical music. Sound recording project is developed by adopting new ideology, getting benefit of new inventions, educational exam in Mandal working for versatile regeneration of Indian music art. Association of publishers, debate session etc. This is a result of developing ideology. Now it's a responsibility of students for taking advantage of these achievements.

It is said that there was raining due to Malhar of Tansen, if recording facilities was available in those time than we never face a problem of famine. Problems can be solved by repeatedly playing that recording. Well, today we are not familiar with that tone power. But specialty of Indian Music can make our country wealthy. With this trust we are looking our work towards music.

Innovations in the field of Traditional Khayal Singing Style

Gaveesh

Our universe is in a state of continuous change. Every moment, every particle of the universe is changing and the field of music is no exception. Everyday new Ragas, new Taalas and new techniques come into existence. Eminent scholars, thinkers and talented artists keep on challenging the traditional system and leave their own mark by setting new trends in the music scenario. It is a continuous process where musicians apply their insight, knowledge and abilities on the traditional concepts keeping in mind various factors like present scenario, traditional values, the audience and the society so as to produce new techniques. Same is the case with Traditional Khayal Singing Style.

Khayal singing style found its traces back in the 13th century. It emerged due to the efforts of Sultan Hussain Sharque and others that followed him. In the 18th century under the reign of sultan Mohd. Shah Rangeele, Khayal came into limelight. It got its novel type and design owing to the efforts of great musicians like Niyamat Khan (Sadarang) and Firoze Khan (Adarang). Various great artists and musicians gave their contributions to develop the Khayal from time to time. In this article I am going to discuss the innovations and the new methods that were brought forward by the musicians in the past and are being widely adopted by the present day musicians. Also I will put some light on some present day artists who are trying to do newer experiments in this field. I hope this article will lead us towards betterment of the Khayal.

When I think of Innovators, the first name that comes in my mind is of ***Ustad Amir Khan***. Along with being a successful vocalist, he was a thinker, an innovator in the field of music, a settler of new trends. He provided a Khayal style in such a peculiar format which proved to be very effective and popular.[1] He is often referred to as a key figure in contemporary Khayal singing, a *Path Breaker*, who challenged traditional singing styles.[2] He introduced ***Ati Vilambit Laya (Very Slow Tempo)*** in Khayal. He blended the Spiritual flavor and grandeur of Dhruvapad with the ornate vividness of Khayal. He introduced the concept of an aesthetically detailed

Research Scholar in Deptt. Of Indian classical Music (Vocal-Tabla) Faculty of Performing Arts The M.S. University of Baroda, Vadodara (Gujarat) India

Badhat (progression) in Ati-Vilambit Laya. He never bounded himself to any one style or Gharana. He combined techniques of various artists of different Gharanas and developed his own style. He emphasized on ***Ati Vilambit Laya, melody, Kan swar, Clear enunciation of text of the Bandish.*** He was of the view that lyrical part is as important as the Raga part of the Bandish.[1] His style set new trends in Traditional Khayal.

Ustad Aman Ali (Bhindi Bazaar Gharana) was responsible for adding elements of intonation from ***Carnatic classical music*** to the existing format of Hindustani vocals. In the 1940s, ***note-name singing or sargam singing (Solfa Singing)*** was not a part of Hindustani music. Ustad Aman Ali introduced this concept to Hindustani Classical music.[3] He improvised ***Merukhand Principle*** (using various combinations of a given set of notes) in Alap, Tan & Sargam. This Principle was later used by Ustad Amir Khan also. ***Ustad Aman Ali introduced some melodious Ragas of Carnatic music*** such as ***Hansadhawani, Nagaswarali and Pratapwali*** to Hindustani Classical music. These days ***Raga Hansadhwani*** is very popular in Hindustani Classical music which is due to the efforts of Ustad Aman Ali.[4]

Ustad Bade Ghulam Ali Khan had a unique voice, a wide range spanning three octaves, effortless production, all round sweetness, unparalleled flexibility and ease of movement in all tempi. His style possessed an exceptional lucidity and clarity in addition to serenity and calmness.[5] ***His Raga expositions were brief, contrary to convention***, and while he agreed that the beauty of classical music lay in leisurely improvisation, ***he believed that the audience would not appreciate long Aalaps and he had to sing for the masses and change the music to what the audience wanted.***[6] He introduced and popularized the use of ***Kanoon (Swarmandal) instrument*** in Khayal. This became his trademark. He influenced other Artists to use this Instrument like ***Pt. Jasraj*** and ***Ustad Rashid Khan.***

The living Legend of Hindusfani Classical music, ***Pandit Jasraj*** needs no introduction. Endowed with a rich soulful and sonorous voice, Pandit ji's singing is characterized by a harmonious blend of classic and opulent elements, projecting traditional music with an intense spiritual expression. This gives his music a very sublime emotional quality, touching the soul of the listener. His singing is filled with emotions, feelings and a magical effect that bounds the listeners.[7] He sang various Mantras and Devotional songs. ***He did a great job in making Hindustani Classical Music more popular among the masses through his magical singing and by his recordings of Hindustani Classical Vocal and Devotional songs.*** ***Pandit Jasraj*** created a novel form of ***Jugalbandi***, Styled on the ancient system of ***Moorchhana,*** between a male & a female vocalist who each sing different Ragas at the same time. In his Honor, this Legendary Jugalbandi is known as the ***Jasrangi.***[8] Pandit Jasraj is attached to many musical organizations and many artists in India as well as abroad. His contributions to Hindustani music are immense. There are very few artists who have contributed as much to Hindustani Classical music as Pandit ji.

"There is at least one person in sight in the present scenario who is an

assurance for the future of Indian vocal music"- Pandit Bhimsen Joshi.[9] Ustad Rashid Khan's renderings stand out for the emotional overtones in his melodic elaborations. He says," The emotional content may be in Aalap, sometimes while singing the Bandish or while giving expression to the meaning of the lyrics." This brings a touch of modernity to his style as compared to the older maestros who placed greater emphasis on impressive technique and skillful execution of difficult passages.[10] ***A notable achievement of Ustad Rashid khan is the infusion of an emotional content into his melodic elaborations.*** The spontaneous emotional appeal of his manner of singing have won him enthusiastic listeners and followers all over the world.[11] ***.He also experimented with fusing pure Hindustani Classical music with lighter musical genres e.g. in the Sufi recording Naina Piya Se(Song of Amir Khusaro). He did experimental concerts with western instrumentalist Louis Banks[10] and with sitarist Shahid Pervez and others. Apart from following the Classical root, Ustad Rashid Khan has also likes done Fusion with the new generation singers and music composers. He gave his voice for film songs like Aaoge Jab Tum Sajna (Film: jab We Met), Allah Hi Reham (Film:My Name is Khan), Poore se zara sa kam hai(Film:Mausam), Kaahe Ujaadi Mori Neend(Film:Kisna). He contributed a lot to popularize Hindustani Classical music into youth and Common People by making it more interesting, full of emotions and understandable for common listener.***

Now coming to the present scenario, owing to the various developments there have been many changes in the social as well as the music scenario structure. There are innumerable sources of entertainment and people are spoilt for choice with regard to the options available to them. Different musical genres are prevalent like rock, pop, metal, Arabic, blues, reggae etc. these music forms have a huge arsenal of instruments, gadgets and effects (Light, Sound, Fog, Software etc.) that they are using to attract the listeners towards them. The Hindustani classical music has its modalities and a variety of options available to the listeners. But sometimes its appearance and presentation appears to be old fashioned and minimalistic to the present day listeners. The simple and serene style in which the Hindustani classical music is presented is lagging behind the new age music styles which are full of pomp and show.

In recent times various artists experimented on fusion of Khayal like Rashid Khan, Ajay Pohankar, Shubha Mudgal, Sultan Khan (Late), Shafqat Amanat Ali (Pakistan), Rekha Bhardwaaj. They have been experimenting fusion of Hindustani Khayal with other forms and with various Instruments. Due to which Khayal singing has reached Genaral masses. It has started drawing interest of everyone. Due to these innovative Artists Khayal singing has come into Private Albums, on iTunes, Youtube, in Bollywood Films, Khayal Videos on youtube like Piya Baavre, Paayaliya jhankaar(Ajay Pohankar), Lat ulajhi suljha ja Baalam(Shankar Tukker), Albela Sajan Aayo re (Sultan Khan). Other Young Artists like The Khayal Groove(band), MaatiBani are also working on fusion of Khayal with

Synthesizer, Electric Guitar, Bass guitar Drums and other instruments. Some work has also started in Coke Studio Pakistan. They are using Light Effects and other Sound Effects alongwith Khayal. But at the same time one thing must be kept in mind that the Internal Beauty of Khayal must not be affected due to Modernization and Fusion. Spiritual nature of Khayal must be kept as it is in its original form. Light effects, Fog effects, Sound effects and Multimedia effects can be used but only to the extent that it must not interfere in the Internal Properties of Khayal and doesn't hinder its Spiritual Form.

As we have already discussed, that the khayal singing style, it's performance and it's presentation have been tinkered with from time to time by eminent artists and learned musicians and this has led to it being the main style of the Hindustani classical music today. So I want to ask you, has the time not come when we do away with our rigidness and start thinking towards this so as to make our music more popular amongst the masses? So in the end I would like to conclude with a request to all of you out there that let us get together and start working towards the growth and development of our very own Hindustani classical music.

References:

1. Dr. Ibrahim Ali, Website: amirkhanikhayal
2. Vidya Shah, The Hindu, Feb. 24, 2012
3. Swarmandakini.com
4. Swarmandakini.com
5. Wikipedia.org
6. Nadkarni, Mohan (1999). THe Great Masters: Profiles in Hindustani Classical Vocal Music, Harper Collins Publishers India
7. Vijai Shankar, Mumbai (Interview); Pt. Jasraj: Music has universal Appeal September 06,2012
8. A custom of Culture, The Hindu, Dec 01, 2004
9. Padmashree Rashid Khan, ITC SRA Retrieved 2007-05-09
10. GJayakumar, An offering to the Almighty, The Hindu. Retrieved 2007-05-09
11. www.ustadrashidkhan.com

The Heart Soothing Noise Jazz Music

Payal Chakravarty

Music is regarded as the finest art among all 64 arts. As human developed their riuilizations from the pre-his topic times, music got associated with human life and became a part of their culture, tradition and rituals. Our human psychology is totally and entirely filled with music. Its music that makes us different from animals, or rather we can say provide us a higher position in living society. Music has always got moulded up and modified in various regions and communities. As we all know, our Indian music has got a very rich tradition and has been appreciated all our the world. Apart from ours, some other music forms have grabbed our attention too. One such form is the Jazz music.

Jazz is a musical style, specially adopted in western culture. The credit for Jazz music creation goes to the black people and their communitios. It actually originated in black communities of southern united states. Later on, it spread around the world and has alrawn many different national, regional and local music culture.

Litreally, Jazz music is a mixture of African and European music traditions and has even taken up elements from popular music of America.

Jazz can be defined as a range of music from rag time to the present day. It has very special relation to time as it got its improuisation with the flow of time. Critie "Goachim Berendt: defines it as form of music that originated in unites states during confrentations of black culture with European music. Jazz music swing between various eras involving a spontaneity and uitality of musical production in which improuisation plays an important role.

Jazz has a uniqueness in it. Although inspired by European music, Jazz shows its own different format. European cultural music is absolutely a composer's medium. The performer's primary concern is to play a composition as is writer.

Far away from European music, Jazz music is the production of group cretivity, interaction and collaberation. The Jazz performing group members need to have a fine mental adjustment among each other, so that they can support each other while perforing a creating a fine musical piece.

Research Scholar, T.M.B. University, Bhagalpur.

A Jazz performer needs to be initinctiue and spontaneous. A spilled performer never will interpret a tune in very individual ways. He will never play the composition in same way twice. He uses free and full vitality of his thoughts in order to decorate his musical piece.

Jazz was in real, the music of 'slaues' by 18th century, mass number of Africans were brought to united states. Slaues came from west Africa and Congo river Basin. They brought strong musical traditions with them. Slaues were allouted to visit church. They learned hymns from church. They removed all their sourrounds and pains through learning music and later on, they invented Jazz music. The earliest form was "Rural blues" and "Early Jazz".

With the passing time, slawry was abolished and it led to new apportunities for the education of the freed African Americans. They were able to provide low class entertainment as they played music in bars, clubs and brothels. Kansas city was very famous for Jazz music. It had a distinct style of Jazz and was called as "city of Jazz".

Jazz music is accomplished by various instruments. Piano is the most common instrument used. Apart from it, saxophone, clarinet, trumpet trombone, bass, double bass, baritone, tenor, alto, soprano, drums and most commonly, guitar.

Some other opted instruments are the tuba the accordion, the Harmonica, the flugelhorn, the french Horn, the pocket trumpet, the Hammond organ, the cello, the flute etc. Jazz music has always received various reviews about its form. According toe Bruce Johnson, there always has been a tension between Jazz as commercial music or an art form. The alternative viewpoint is that jazz is able to absorb and trans form influences from diverse musical styles. Jazz is not only unique in its musical style, b ut also in its singing style. The artists are all dressed up in black caps and tied red bandanas around neck. The generally smoke cigerette and share it at sexsaphone.

There are a number of jazz styles in practice. Some of them are-New orleans, swing, Kansas, City, Gupsy, Bebop, Cool, Avant garde, Ajro-cuban, Nodal, free-latin, soul, jazz-fusion, jazz-rock, smooth jazz, jazz-tunk etc. since 1990, no exact style dominated in this field of music, Rather, a wide range of active styles with individuality are preferrea, recorded and presented.

Some of the major jazz artists are-Eronest Hogan, Vess Qssman, William H. Krell, Brad Mehldow, Jeson Moron, Charlie Parker etc.

Buddy Bolden, louis Armstrong, Jelly Roll, Morton, Kid ory, kind oliner, sidney Bechet are some of the first generation New orleans jazz greats. Apart from them, Benny Goodman, Genekrupa, Mezz Mezzrow, Jimmy Mc. Partland, Frank Teschemacher, Bud freeman are the famous white jazz musicians. Vijay Aiyyar is one of the most finest jazz artists of India.

Jazz has always touched our soul. It shows the pain of being bonded, as well as the joy of freedom. It is no doubt, one of the best musical formats.

References :

1. Frank Driggs & Chuck Haddix, Kansas City Jazz, Oxford University Press, P.-1, 2, 84, 85.

संपादक
भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)
दरभंगा

प्रिय महोदय,
भैरवी के एक वर्ष (2 अंक) ...../-रूपए/तीन वर्ष (6 अंक) ...../-रूपए/पाँच वर्ष (10 अंक) ...../-रूपए/आजीवन ...../-रूपए का चैक/ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे वार्षिक/तीन वर्ष के लिए/पाँच वर्ष/आजीवन के लिए ग्राहक बना लें और मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ।

(हाँ, अगर आप दिल्ली के बाहर का चेक हमें भेज रहे हैं तो कृपया बैंक कमीशन के 40/- रूपए उसमें अतिरिक्त जोड़ दें यानि चेक हमें 240/- रूपए का भेजें।)

नाम .....
पता .....
.....
.....
.....
टेलीफोन नं. .....

यहाँ से काटिए

चेक/ड्राफ्ट **संपादक, भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)**, दरभंगा के नाम पर ही बनाएँ और निम्नलिखित पते पर हमें भेजने की कृपा करें :

प्रधान सम्पादक
डॉ. पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

अंक आप भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका) के नाम मनीआर्डर भेजकर भी मंगा सकते हैं या फिर वी.पी.पी. से।

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर/ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 5 डॉलर/3 पाउंड